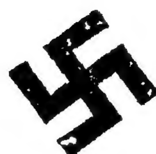
देवराज सुराणा :: अभयराज नाहर

अध्यक्ष मन्त्री

श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय

मेवाड़ी बाजार, ब्यावर (राजस्थान)





/// ///

मुद्रक :

पं० बालकृष्ण उपाध्याय

श्री नारायण प्रिन्टिंग प्रेस,

ब्यावर.

/// ///

-: आभार :-

"हीरक प्रवचन" का सातवां भाग पाठकों के कर-कमलों में उपस्थित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है। कुछ ही समय पूर्व पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां व छटा भाग प्रकाश में आ चुका है। पाठकों ने उसे सहर्ष अपनाया है और इसी कारण आगे के भाग प्रकाशित करने का उत्साह हमें प्राप्त हो सका है। आशा है अगले भाग यथा सम्भव शीघ्रही पाठकों की सेवा में पहुँच सकेंगे।

इन प्रवचनों के प्रकाशन में जिन-जिन महानुभावों का हमें प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग प्राप्त हुआ है, हम उनके प्रति अतीव आभारी हैं। पं० र० मुनि श्री हीरालालजी म० का, जिनके यह प्रवचन हैं, कहां तक आभार माना जाय? आप तो इसके प्राण हैं ही। वे सज्जन भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके आर्थिक सहयोग से हम इस साहित्य को प्रकाशित कर सके हैं।

अन्त में निवेदन है कि धर्म प्रेमी पाठक इन्हें स्वयं पढ़ें, दूसरों को पढ़ने के लिए दें और अधिक से अधिक प्रचार करने में सहायक बनें। इति शम्

देवराज सुराणा
अध्यक्ष,

अभयराज नाहर
मन्त्री,

जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, ब्यावर

विषयानुक्रमणिका

नाम विषय | पृष्ठ



:: दानदाताओं की शुभ नामावली ::

—:o:—

श्री मज्जैनाचार्य शांतमूर्ति स्वर्गीय श्री खूबचन्दजी म० के गुरु भ्राता स्व० व्याख्वी पं० मुनि श्री लक्ष्मीचन्दजी म० के सुशिष्य श्रमण संघीय जैनागम तत्त्व विशारद पं० रत्न मुनि श्री हीरालालजी का सं० २०१६ का चातुर्मास बैंगलोर केन्टोनमेन्ट में श्री वर्ध० स्था० जैन श्रावक संघ की आग्रह भरी विनती से मोरचरी तथा सपींग्सरोड़ में हुआ। मुनि श्री के प्रवचन अत्यन्त मनोहर सारगर्भित एवं हृदयस्पर्शी होते थे। उन ओजस्वी प्रवचनों को सर्व साधारण के सदुपयोग में लाने के लिए श्रीमान् धर्मपालजी मेहता द्वारा संकेत लिपि लिखवाए गए और उन व्याख्यानों का संपादन हो जाने पर "हीरक-प्रवचनादि" पुस्तक के रूप में प्रकाशित करवाने के लिए सांवत्सरिक महापर्व के समारोह की खुशी में निम्नलिखित उदार महानुभावों एवं महिलाओं ने अपनी उदारता का परिचय देते हुए सहयोग प्रदान किया:—

:: मानद् स्तम्भ ::

१११११) श्रीमान् सेठ मंगलजी भोजराजजी मेहता (पालनपुर निवासी)
C/o विक्टरी टेड्रर्स रंगापिल्लाई स्ट्रीट पांडीचेरी

१००१) श्रीमान् सेठ कुन्दनमलजी पुखराजजी लूंकड़,
चिकपेट बैंगलोर २

:: माननीय सहायक ::

५०६) श्री महिला समाज की ओर से बैंगलोर

५०१) श्री सेठ जसराजजी भंवरलालजी सियाल चिकपेट „ २

५००) „ मंगलजी भाई मणीलाल भाई मेहता (पालनपुर निवासी) C/o ओवरसीज ट्रेडर्स २२ डूप्लेक्स स्ट्रीट पांडीचेरी

५००) श्री सेठ हरिलालजी लक्ष्मीचन्दजी भाई मोदी (पालनपुर निवासी) C/o एच०एल० मोदी वेशाल स्ट्रीट पांडीचेरी

४००) " शांतिलालजी बछराजजी भाई मेहता (पालनपुरनिवासी) C/o एस. बछराज नं० ६ लंबोरहनी स्ट्रीट पांडीचेरी

३००) " गुप्तदान (एक बहिन की तरफ से) मामूली पैठ बैंगलोर २

२५१) श्रीमती मंजुला बहिन C/o एम० एस० मेहता, बौरटन शौप महात्मा गांधी रोड, बैंगलोर १

२५१) श्रीमान् सेठ रूपचन्दजी घोषमलजी लूनिया, सोरचरी बाजार, बैंगलोर १

२५१) " आसुलालजी बुधमलजी बजेडीया बोहरा, पारस टेक्सटाईल D.S. लेन चीकपेट बैंगलोर सीटी २

२०२) " सेठ मंगलचन्दजी मांडोत, शिवाजी नगर बैंगलोर १

२०१) श्रीमती ताराबाई कालीदासजी मेहता C/o सेठ रजनीकान्तजी कालीदासजी मेहता २११ लिंगीचेट्टी स्ट्रीट मद्रास १

२००) श्रीमान सेठ जसवंतसिंहजी संग्रामसिंहजी मेहता (जयपुर निवासी) C/o इम्पोर्ट एक्सपोर्ट कोरपोरेशन पोस्ट बोक्स नं० २८ कोसेकड़े स्ट्रीट पांडीचेरी

१५१) " गुप्त दान (एक सज्जन की ओर से) हलसूर

१५१) " केसरीमलजी अमोलकचन्दजी आछा, कांजीवरम

१३१) " घेवरचन्दजी जसराजजी गुलेछा, रंग स्वामी टेम्पल स्ट्रीट, बैंगलोर २

१२१) " जुगराजजी खींवराजजी बरमेचा मद्रास

१०२) श्री सेठ जसराजजी रांका (राखी वाले) C/o सेठ रतनचंदजी रांका ३८ वीरप्पन स्ट्रीट मद्रास
१०१) ” किशनलालजी फूलचन्दजी लूनिया, दीवान सुरापालेन, बैंगलोर २
१०१) ” मिश्रीलालजी पारसमलजी कातरेला, मामूली पैठ बैंगलोर २
१०१) ” मगनभाई गुजराती, गांधी नगर बैंगलोर २
१०१) ” गुलाबचन्दजी भंवरलालजी सकलेचा, मलेश्वरम बैंगलोर २
१०१) ” भभूतमलजी देवड़ा, बेनी मिल्स रोड़ बैंगलोर २
१०१) ” पन्नालालजी रतनचन्दजी कांकरिया, सपींग्स रोड़ बैंगलोर १
१०१) ” उदयराजजी भीकमचन्दजी खींवसरा, सपींग्स रोड़ बैंगलोर १
१०१) ” पुखराजजी मूथा, सपींग्स रोड़ बैंगलोर १
१०१) ” गणेशमलजी लोढ़ा सपींग्स रोड़ बैंगलोर १
१०१) ” नेमीचन्दजी चांदमलजी सियाल, सपींग्स रोड़ बैंगलोर १
१०१) ” भंवरलालजी घीसूलालजी समदड़िया, सपींग्स रोड़ बैंगलोर १
१०१) ” हीराचन्दजी फतहराजजी कटारिया, केवेलरी रोड़ बैंगलोर १
१०१) ” मिश्रीलालजी भंवरलालजी बोहरा, मारवाड़ी बाजार बैंगलोर १
१०१) ” दुलराजजी भंवरलालजी बोहरा, अलसूर बैंगलोर ८
१०१) ” अमोलकचन्दजी लोढ़ा तिमिया रोड़ बैंगलोर ८

१०१) श्री सेठ जवानमलजी भंवरलालजी लोढ़ा तिमिया रोड़ बैंगलोर १

१०१) " मिट्ठालालजी खुशालचन्दजी छाजेड़
तिमिया रोड़ बैंगलोर १

१०१) " मोतीलालजी छाजेड़ "

१०१) " भंवरलालजी बांठियां "

१०१) " जेवतराजजी भंवरलालजी लूनिया "
भारतीनगर बैंगलोर १

१०१) " लक्ष्मीचन्द C/o मोतीलालजी माणकचन्दजी कोठारी
नं० ३२ D. अरुनाचलम मुदलियार स्ट्रीट बैंगलोर १

१०१) " पुखराजजी लूंकड़ की धर्मपत्नि श्रीमती गजरा बाई
चिक पैठ बैंगलोर २

१०१) " जो० नेमीचन्दजी सकलेचा
ओल्डपुर हाऊस रोड़ बैंगलोर १

१०१) " लखमीचन्दजी खारीवाल स्वस्तिक इलेक्ट्रिक
हनुमान बिल्डिंग चिक पैठ बैंगलोर २

१०१) श्री गुप्तदान (एक सज्जन की ओर से) शूले बाजार बैंल०

१०१) " रामलालजी मांडोत, शिवाजी नगर बैंगलोर १

१०१) " पुखराजजी मांडोत ब्लोक पल्ली " १

१०१) " पुखराजजी पोरवाल,
चिक बाजार रोड़ शिवाजी नगर बैंगलोर १

१०१) श्री सेठ अम्बूलालजी धर्मराजजी रांका,
एंलगुण्ड पालियम बैंगलोर १

१०१) " चम्पालाजी रांका, ओल्डपुर हाऊस रोड़ बैंगलोर १

१०१) " केसरीमलजी मिश्रीमलजी गोटी,
५५ काशीमोर रायपुरम मद्रास १३

१०१) श्री सेठ जुगराजजी पुखराजजी खींवसरा,
सजोड़े अट्ठाई के उपलक्ष में
६/५८ बरकीट रोड टी. नगर मद्रास १७
१०१) " कपूरचन्दजी एन्ड सुरतिया,
६८ मिन्ट स्ट्रीट साऊकार पेट मद्रास १
१०१) उगमबाई की तपस्या के उपलक्ष में
C/o जी० रघुनाथमलजी ४१६ मेन बाजार वैल्लुर
१०१) श्री सेठ भभूतमलजी जीवराजजी मरलेचा,
नगरथ पैठ बैंगलोर २
१०१) " शान्तिलालजी छोटालालजी, एवेन्यु रोड बैंगलोर २
१०१) " हिम्मतमलजी माणकचन्दजी छाजेड,
अलसूर बाजार बैंगलोर
१०१) " घीसूलालजी मोहनलालजी सेठिया, अशोका रोड मैसूर
१०१) " मेघराजजी गदिया, अशोका रोड मैसूर
१०१) " गुलाबचन्द कन्हैयालालजी गदिया, आरकोनम् मद्रास
१०१) श्रीमती सरस्वती बहिन C/o मणिलाल चतुरभाई
नवरंगपुरा एलीस ब्रिज बस स्टेन्ड के सामने, अहमदाबाद
१०१) श्री सेठ मिश्रीलालजी लूकड़ त्रिवल्लूर मद्रास
१०१) " मानमलजी भंवरलालजी छाजेड़ "
पलुसर रोड उरगम के० जी० एफ०
१०१) " पुखराजजी अनराजजी कटारिया आरकोनम
१०१) श्रीमती अ०सौ० कंचनगोरी धर्मपत्नी श्री नवलचन्दजी डोसी
C/o बोम्बे आपटीक्लब १७ सी ब्रोडवे मद्रास १
१०१) श्री सेठ हेमराजजी लालचन्दजी सीघवी
नम्बर ११ बड़ा बाजार रायपेट मद्रास १४

१०१) श्री सेठ अमोलकचन्द भंवरलाल विनायकीया.
१D२/१३६ माऊन्ट रोड़ थाऊजेन्ट लाईट मद्रास ६

१०१) ,, वरजीवन पी० सेठ, ठी० सुलतान बाजार
इन्द्र बाग हैदराबाद (आंध्र-प्रदेश)

१०१) ,, खिवराजजी चोरड़िया, नं० २६ जनरल मुथैय्या स्ट्रीट
साहूकार पेठ मद्रास नं० १

१०१) श्रीमान् सेठ जंवतमलजी मोहनलालजी चोरड़िया नं० ७
बाजार रोड़ मैलापुर मद्रास

१०१) ,, भाणजी भगवानदासजी ६४ मिन्ट स्ट्रीट जी०पी०श्रो०
बोकस नम्बर १८२ साहुकार पेट मद्रास १

१०१) ,, शम्भुमलजी मदनलालजी वैद्य नं० ८ बाजार रोड़
मैलापुर मद्रास ४

१०१) ,, शम्भुमलजी माणकचन्दजी चोरड़िया नं० १५ बाजार
रोड़ मैलापुर मद्रास ४

१०१) ,, भिकमचन्दजी सुराणा नं० ५२ पी०पी० वी० कोयल
स्ट्रीट मैलापुर मद्रास ४

१०१) ,, एच० सूरजमलजी जैन नं० ६७/१८ उसमान रोड़
टी नगर मद्रास १७

१०१) ,, गुलाबचन्दजी चीमूलालजी मरलेचा बाजार रोड़
पल्लावरम

१०१) ,, सोजत रोड़ निवासी गणेशमलजी राजमलजी मरलेचा
रेडहिल्स मद्रास

१०१) श्रीमती चम्पाबाई और सायर बाई की ओर से C/o श्रीमान्
सेठ जुगराजजी पारसमलजी लोढ़ा २६ बाजार रोड़
सेदा पेठ मद्रास १५

१०१) ,, मनीलालजी एन्ड सन्स १७२ नेताजीबोस रोड़ मद्रास १

१०१) श्री सेठ एस० रतनचन्दजी चोरड़िया ५ रामाजियम आयर
स्ट्रीट इलीफैन्ड गेट मद्रास १

१०१) ,, एम० जेवतराजजी खिवंसरा नागलापुरम (तालुक)
सतीवेड जिला (चितुर)

१०१) ,, सी० चान्दमलजी टिन्डीवरम

१०१) ,, गुलाबचन्दजी घीसूलालजी मरलेचा ४८ बाजार रोड़
पल्लावरम

१०१) ,, दीपचन्दजी पारसमलजी मरलेचा चंगलपेठ

१०१) ,, बकतावरमलजी मिश्रीमलजी मरलेचा तिरकुलिकुण्डम

१०१) ,, गनेशमलजी जवन्तराजजी मरलेचा तिरकुलिकुण्डम

१०१) ,, सुजानमलजी बोहरा की धर्मपत्नी शान्तिकवर के सजोड़े त्याग के उपलक्ष में C/o सेठ सुजानमलजी बोहरा
गांव सियाली (जिला) तन्जावर

१०१) ,, जशराजजी सिंघवी की धर्मपत्नी सायर बाई ने सजोड़े ब्रह्मचर्य ब्रत धारन करने के उपलक्ष में C/o सेठ जशराजजी देवराजजी सिंघवी गांव वलवानूर

१०१) ,, विजयराजजी नेमीचन्दजी बोहरा ,, ,,

१०१) ,, प्रेमराजजी महावीरचन्दजी भंडारी ,, ,,

१०१) ,, आईदानजी गोलेछा की धर्मपत्नी गोराबाई ने सजोड़े ब्रह्मचर्यब्रत धारन करने के उपलक्ष में C/o सेठ आईदानजी अमरचन्दजी गोलेछा जवेलर्स विल्लू पुरम

१०१) ,, चुन्नीलालजी नाहर के सजोड़े शीलब्रत धारन करने के उपलक्ष में C/o चुन्नीलालजी धरमीचन्दजी नाहर
गांव आरगडनल्लूर (स्टेशन) तिरकोग्ल्लूर

१०१) श्री सेठ एच० चन्दनमलजी एन्ड को० नम्बर ६७ नयनापा-
नायक स्ट्रीट मद्रास ३

१०१) ,, एस बनेचन्दजी वीजराजजी भटेवड़ा नम्बर ४२४ मेन
बाजार वैलुर

१०१) ,, एन० गेवरचन्दजी सोवनराजजी भटवेड़ा नम्बर ४११
मेन बाजार वैलुर

१०१) ,, नेमीचन्दजी ज्ञानचन्दजी गुलेछा नं० ७५ ,, ,,

१००) ,, डायालाल मणीलाल शाह (पालनपुर निवासी) C/o
जेम्स एन्ड कम्पनी रंगापिल्लाई स्ट्रीट पाडेचेरी

१०१) ,, कान्तिलालजी भाई भंसाली (पालनपुर निवासी)
C/o चेरी ट्रेडर्स दी त्यागमुदली स्ट्रीट पाडीचेरी

१०१) ,, नन्दलालजी कोठिया C/o सेठ चीरंजीलालजी महावीर-
प्रसादजी जैन भरतपुर (राजस्थान)

१०१) श्री S. सनतोकचन्दजी जवरीलालजी नं० ४२ बाजार
स्ट्रीट मधुरनटकम जी: (चंगलपेट)

१०१) ,, श्रीरेमलजी भवरलालजी मुथा नं० ४५ रंगस्वामी
टैम्पलसट्रीट बेंगलोर सीटी नं० २

१०१) श्रीमती दाखीबाई C/o सीरेमलजी चंपालालजी मुथा
नं० ४५ रंगस्वामी टेमपल स्ट्रीट बेंगलोर सीटी नं० २

१०१) श्रीमती प्यारीबाई के १७ दिन के तप के उपलक्ष में भेंट
C/o घेवरचन्दजी चम्पालालजी एण्ड को नं० १४६
मामुलपेट बेंगलोर सीटी

१०१) श्री मुलतानमलजी हसतीमलजी नं० १७ मामुल पेट
बेंगलोर सीटी

१०१) श्रीमती कमलाबाई C/o फतेचन्दजी धनराजजी मुथा
बड़ा बाजार Po. बोलारम (आंध्र प्रदेश)

१०१) श्री हीराचन्दजी नेमीचन्दजी बांटीया
Po. आंरकाट (जिला N.A.)
१०१) „ नन्दरामजी घीसुलालजी लोढा एण्ड ब्रादर्स
नं० २० जैंकरोड कोलपेट बेंगलोर नं० २
१०१) „ केसरीमलजी घीसुलालजी कटारीया नं० १२१ A. M.
Road चीकपेट करोस बेंगलोर सीटी नं० २
१०१) „ गणेशमलजी मोतीलालजी कांठडे नं० ५ V.
टेनीरी रोड-फरजन रोड बेंगलोर नं० ५
१०१) „ चम्पालालजी चेतनप्रकाश नं० ६२ नागरपेट
बेंगलोर सीटी नं० २
१०१) „ L. पुनमचन्दजी जैन खींवसरा नवाशहर वाला बेंगलोर
१००) „ शेसमलजी माणकचन्दजी ज्वेलरस १६२
बीज बाजार स्ट्रीट आरनी ARNI
१००) „ बाबूलालजी केशवलालजी शाह (पालनपुर निवासी)
C/o इस्टर्न ट्रेडर्स सेन्ट थरैस स्ट्रीट पांडीचेरी

★★★ दो शब्द ★★★

भारतीय साहित्य बहुत विशिष्ट साहित्य हैं। इसमें जो भी वर्णन किया गया है वह बहुत ही नपे तुले शब्दों में, एवं पूर्ण अनुभव के बाद किया गया है। इसमें एक वाक्य आता है "सत् ज्ञानमेव शक्ति" सत ज्ञान ही शक्ति है।

विश्व में जितनी भी शक्तियां है, उनमें सत्‌ज्ञान शक्ति को ही वास्तविकता दी गई है। धन शक्ति, जन शक्ति; शरीर शक्ति, शास्त्र शक्ति, बल शक्ति आदि जितनी भी शक्तियां है वे क्षणिक व नाशवान हैं। लेकिन ज्ञानशक्ति ही स्थायी हैं।

वैसे तो ज्ञान विश्व के समस्त प्राणियों में विद्यमान है। यहां तक कि जो निकृष्ट कोटि के जीव निगोद में रहे हुए हैं वे भी ज्ञान शून्य नहीं हैं। क्योंकि "जीवो उवयोगलक्खणो" जीव का उपयोग लक्षण है। तो निगोदादि जीवों में सत् ज्ञान का अभाव है। क्योंकि वे विवेक से रहित हैं। इसी से वे शीघ्रगामी विकास नहीं कर सकते। अनन्तकाल व्यतीत होने पर भी उनकी वैसी की वैसी स्थिति हैं, और वे वहां के वहां रहे हुए हैं।

आज तो ज्ञान का युग है। सर्वत्र ज्ञानार्जन के लिये शिक्षा केन्द्र खोले जा रहे हैं। करोड़ों रुपयों का व्यय शिक्षा पर होता

है। करोड़ों मानवी अध्ययन करते हैं। लेकिन उस शिक्षा प्रणाली में सम्यक् ज्ञान का अभाव है। विद्याध्यन तो किया जाता है किन्तु पेट पोषण एवं दूसरों के शोषण के लिये, आत्मविकाश के लिये नहीं। इसी का परिणाम स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि आज का युवक अधिक उद्दंड, अनुशाशन हीन, नास्तिक बन रहा है। नीति कहती है कि "विद्या ददाति विनयं" विद्या तो विनय प्रदान करती है व नम्र बनाती है। न कि अहंकारी या दम्भी।

दुसरी तरफ विज्ञानी भी ज्ञान की बांग पुकार रहे हैं, वे अपने ज्ञान द्वारा नाना प्रकार के अस्त्रशस्त्रों का निर्वाण कर रक्षा के बहाने विश्व को भयान्वित कर रहे हैं। एक अणु बम बनाता है तो दूसरा एटम बम। एक राकेट द्वारा मंगल ग्रह की यात्रा करना चाहता है, तो दूसरा चन्द्र लोक की। इन सभी साधनों को तैयार करने का हेतु उपर से तो यह बताया जाता है कि हम विश्व की सेवा कर रहे हैं। लेकिन अन्दरूनी चाल और ही है। इन सभी साधनों द्वारा विश्व को अपनी शक्ति दिखाकर डराना है या धमकाना दबाना है। चन्द्रलोक की यात्रा के बहाने कभी भी बम धर कर राकेट छोड़ कर विश्व को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं करेंगे इसकी खातरी क्या ? इन विज्ञानियों की इन चालबाजियों से विश्व त्राहि त्राहि पुकार रहा है। नाश के कंगुरे पर संसार खड़ा है।

अतः ज्ञान तो सर्वत्र दिखाई दे रहा है, उसमें आत्मज्ञान

की शून्यता रही हुई हैं। इसी से वह ज्ञान मनुष्यों को राक्षसी वृत्ति की तरफ संसार को घसीट रहा है, भाईचारे के नाते का तांता तोड़ रहा है। इसलिये विज्ञ पुरुष कहते हैं कि "सतज्ञान-मेव शक्ति" अन्य शक्तियां तो मानव को पीड़ित कर सकती है। लेकिन सत् ज्ञान शक्ति जीव को आनन्द, शान्ति, सुख प्रदान करती है।

सत् ज्ञान प्राप्ति के दो ही मार्ग है-सत् साहित्य वाचन व मनन अथवा संत पुरुषों की सेवा। साहित्य की तो आजकल विश्व में बाढ़ सी आ रही है। प्रति वर्ष करोड़ों पुस्तकें प्रकाशित होती है। जिनकी कीमते भी अधिक से अधिक होती हैं। लेकिन वे पुस्तकें अधिक अर्थ उपार्जन की कला की बात बताती है, फिर चाहे अर्थ की प्राप्ति न्याय से या अन्याय से, शोषण से या लूटकर कीं जा सकती है। हां तो इस प्रकार का साहित्य मानव जीवन में दैविक गुणों को नहीं दे सकता है। किन्तु आत्मज्ञान से परि-पूर्ण शास्त्र ही सतज्ञान व सत् प्रेरणा दे सकता है।

सत्साहित्य की तीन कसौटियें उत्राध्ययनसूत्र के तीसरे अध्ययन की आठवीं गाथा में इस प्रकार बताई हैं कि—

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति, तवं खंति महिंसयं॥

प्रथम कसौटी यह है कि जिस साहित्य के सुनने से व

पढ़ने से तपस्या करने की रुचि पैदा हो। दूसरी क्षमा करने की भावना जागृत हो। तीसरी अहिंसा, प्राणि मात्र पर करूणा करना विश्व के समस्त जीवों को अपने जैसा समझना। और उनके सुख दुःख में भागीदार बनना।

सत्साहित्य एक प्रकाश स्थम्भ है। मानवों को अन्तर ज्योति का दर्शन कराता है। और भूले भटकों को मार्ग पर लाता है। जिससे गंतव्य स्थान पर पहुंचा कर आत्म शान्ति देता है।

आप के हाथ में हीरक प्रवचन का सातवां भाग है। इसमें रहे हुए प्रवचन बहुत सुन्दर, आत्म शान्ति दिलाने वाले, मोक्ष-मार्ग के पथ प्रदर्शक हैं। इसे हम निसंकोच सत्य साहित्य कह सकते हैं। क्योंकि इन प्रवचनों में इन विषयों पर—

सुपात्र–सेवा		मन की जलन
तपोमहिमा	....	निरालम्ब के आलम्ब
भावना भवनाशिनी	....	संवरद्वार
बन्धन-विजय	....	दिलका मलहम
शल्य-निरसन	....	कल्याण की कसौटी
मुक्ति की वरमाला	....	

बहुत आकर्षक एवं रोचक रूप से विशद विवेचन किया है।

इन प्रवचनों के प्रवचनकार शास्त्र विशारद पंडित मुनि श्री हीरालालजी म० हैं। आपने बाल्यकाल से ही आचार्य श्री खूबचन्दजी म० की सेवा में रह कर शास्त्रों का अध्ययन किया है।

अनेक प्रान्तों में भ्रमण कर बहुत अनुभव ज्ञान प्राप्त कर जनता में शान्ति, प्रेम, करुणा के अग्रदूत बन कर प्रसिद्धि में आये हैं। सरलता, सत्यता से परिपूर्ण और हृदय के उदार हैं। आप अपने धर्म के नियमों को सही पालन कर रहे हैं। जनता को सच्चा मार्ग दर्शन कराते हुए भारत भूमि पर बहुत वर्षों तक विचरण करते रहे यही मेरी शुभ कामना है।

पाठकों से मैं अनुरोध करता हूं कि आप हीरक प्रवचन का स्वध्याय हमेशा करें। जो कि सदैव सभी प्रकार की स्थिति में आपका सच्चा साथ दे सकें।

स्व० शास्त्र विशारद पंडित मुनि श्री हजारीमलजी म० का शिष्य

लाभ मुनि

सं० २०१८ माघ शुक्ला
पूर्णिमा (वेल गांव)

❀ ओम् अर्हम् नमः ❀

सुपात्र-सेवा



सिद्धाणं बुद्धाणं० ।

भाइयों ! भागचन्द्रजी नामक कवि ने भगवान् महावीर की आठ श्लोकों में स्तुति की है। दूसरे श्लोक में वे कहते हैं—

अताम्रं यच्चक्षुः कमलयुगलं स्पन्दरहितं,
जनान् कोपापायं प्रकटयति वाऽभ्यन्तरमपि।
स्फुटं मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वाऽतिविमला,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु नः ॥ २ ॥

卐卐

भगवान् महावीर स्वामी कैसे थे ? भगवान् के नेत्रों में क्रोध की लालिमा नहीं थी। क्रोध का रंग लाल माना गया है। मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय कर देने से उनकी आत्मा में क्रोध का पूर्ण रूप से अभाव हो चुका था। उनके दोनों नेत्र दो कमलों के समान निश्चल थे और उनको देखने से ही स्पष्ट प्रकट होता था कि भगवान् के भीतर क्रोध की वृत्ति लेश मात्र भी विद्यमान नहीं है। उनके नेत्र ही प्रशान्त नहीं थे, सम्पूर्ण

शरीर प्रशम की साक्षात् प्रतिमा था और अत्यन्त निर्मल था ऐसे शान्तमूर्त्ति भगवान् महावीर स्वामी हमारी आंखों के समक्ष हों।

भाइयों ! कषाय ही भवभ्रमण का प्रधान कारण है। कषाय के उदय से ही जीव को नाना गतियों में और नाना योनियों में जन्म-मरण की वेदनाएँ भोगनी पड़ती हैं। जिसने कषाय का निर्मूलन कर दिया, समझ लीजिए कि उसके समस्त दुःखों का अन्त हो गया। वह अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है और सदा के लिए अखण्ड शान्ति प्राप्त कर लेता है।

कषाय के मूल रूप दो हैं–राग और द्वेष, राग में माया और लोभ का समावेश हो जाता है तथा द्वेष में क्रोध और मान कषाय का। इस प्रकार राग-द्वेष ही कषाय हैं। कषाय के संस्कारों को नष्ट कर देने के लिए ही साधना की आवश्यकता है। संयम का आशय भी यही है कि क्रोध, मान, माया और लोभ पर विजय प्राप्त करना और आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर करना। जो महापुरुष कषाय के विषैले अंकुर को उखाड़ कर फैंक देते हैं, वही वीतराग कहलाते हैं और उन्हीं की हम बार-बार स्तुति करते हैं। श्रीमद् दशवैकालिकसूत्र के आठवें अध्ययन में कहा है

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स।

—दश० अ० ८, गाथा ४०

कषाय चार हैं-क्रोध, मान, माया और लोभ। क्रोध और मान कषाय का यदि निग्रह नहीं किया जाता और माया तथा लोभ निरन्तर बढ़ते ही चले जाते हैं, अर्थात् चारों ही कषायों पर यदि अंकुश नहीं लगाया जाता और उन्हें स्वच्छंद छोड़ दिया जाता है तो यह कषाय पुनर्भव के मूल को सींचते हैं-जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाते हैं।

जैसे जल के सिंचन से वृक्ष बढ़ता है, उसी प्रकार कषायों के सिंचन से भववृक्ष बढ़ता है। 'कषाय' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि 'कष' अर्थात् संसार का जिससे 'आय' अर्थात् प्राप्ति हो, वह कषाय है। तो जिस आत्मा को पुनर्जन्म नहीं करना है और आवागमन के चक्कर से बचना है, उसे चाहिए कि वह कषायों को सर्वथा नष्ट कर दे।

कषायों का विनाश करना चाहिए, यह तो निर्विवाद है, किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उनके नाश का उपाय क्या है? तीर्थंकर भगवान् ने कषाय को क्षय करने के दो मार्ग-उपाय बतलाये हैं-संयम और तप।

संयम सत्तरह प्रकार का है और तप बारह प्रकार का उत्पन्न होते हुए, निमित्त मिलने पर उभरते हुए कषाय को संयम के द्वारा रोक देना चाहिये और संस्कार रूप में विद्यमान कषाय को तपश्चरण के द्वारा नष्ट करना चाहिए। इस प्रकार राग-द्वेष रूप कषाय के मूल को उखाड़ फैंकने का उपाय संयम और तप है।

संयम और तप कषाय से मुक्त होने का रामबाण उपाय है, मगर साधक को समझ लेना चाहिए कि इसके लिए अर्थात्

अपनी चित्तवृत्तियों को संयममय और तपोमय बनाने के लिए सतत सतर्क रहने की और निरन्तर दीर्घकालीन अभ्यास की आवश्यकता होती है। कषाय के संस्कार अत्यन्त गहरे, प्रबल और दीर्घकालीन हैं। अनादि काल से आत्मा में कषायों का साम्राज्य है। आत्मा कासायिक रूप में परिणत हो रहा है। जब कभी छोटा-मोटा निमित्त मिलता है, तभी कषाय भड़क उठता है। उसे जीतना साधारण काम नहीं है। हमने विचार किया और कषाय को जीत लिया, ऐसा कदापि होने वाला नहीं है। अतएव बहुत सावधान रह कर और सदैव प्रयत्न करने पर ही कषाय पर विजय प्राप्त की जा सकती है, जो साधक सावचेत होकर अपने चित्त की चौकसी करते रहते हैं और चित्त में उठने वाली तरंगों का विश्लेषण करते रहते हैं और बाहर की दुनिया से विमुख होकर आन्तरिक लोक में ही रमण करते रहते हैं, वही कषाय शत्रु को नष्ट करने में समर्थ होते हैं।

अनेक भवों की साधना के संस्कार लेकर जन्म लेने वाले तीर्थंकर जैसे महापुरुषों को भी साधना करनी पड़ती है और तभी वे कषायों का उन्मूलन करने में समर्थ होते हैं, तो साधारण साधक का क्या कहना है! उसके संस्कार इतने प्रबल नहीं होते, अतएव उसे तो और भी अधिक पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है।

भगवान् राग और द्वेष से रहित हो चुके हैं और हम उनसे रहित होना चाहते हैं। अतएव यह भावना की गई है कि प्रभो ! आप हमारी आंखों के सामने होंगे तो हमारी आत्मा से भी राग द्वेष रूप कषाय दूर हो जाएगें।

समवायांग सूत्र

भगवान की जो स्तुति उक्त श्लोक द्वारा की गई है, वही श्रीसमवायांग सूत्र द्वारा भी की जाती है।

भगवान् आर्य सुधर्मा स्वामी अपने सुशिष्य जम्बू स्वामी से कह रहे हैं कि भगवान् तीर्थंकर के गुण कैसे हैं ? हे जम्बू ! भगवान् पुरुषों में पुण्डरीक कमल के समान उत्तम हैं। पुरुषों में गन्ध हस्ती के समान हैं, और लोक के हितैषी हैं।

इसके पश्चात् नमुत्थुणं के पाठ में बतलाया गया है भगवान् लोक में दीपक के समान प्रकाश करने वाले थे। दीपक जहां रक्खा जाता है, वहीं अन्धकार को नष्ट कर देता है। तीर्थङ्कर भगवान् भी अन्धकार को नष्ट करने वाले थे। जो जनसमाज है और जिसमें अज्ञान का गहन अन्धकार व्याप्त है, वह भगवान् के उपदेश द्वारा दूर हो जाता है।

इसके बाद भगवान् को 'लोगपज्जोयगराणं' कहा गया है। अर्थात् भगवान् लोक में सूर्य के समान प्रकृष्ट उद्योत करने वाले थे। जैसे सूर्य के उदित होते ही अन्धकार भाग जाता है, वैसे ही भगवान् के ज्ञानसूर्य के प्रकाशित होते ही अज्ञानी जनों के हृदय से अज्ञानान्धकार भाग जाता है और उनके जीवन में ज्ञान का उज्ज्वल आलोक झिलमिलाने लगता है।

यहां यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि 'लोगपईवाणं' और 'लोगपज्जोयगराणं' इन दो पदों का अर्थ जब समान ही है तो फिर दो उपमाएँ देने की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रश्न के

दो उत्तर दिये जा सकते हैं। प्रथम यह कि नमुत्थुणं का पाठ स्तुति रूप है और स्तुति में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता। दूसरा उत्तर यह है कि इन दोनों पदों का अर्थ एक नहीं है। उसमें भिन्नता रही हुई है।

पूज्य खूबचन्दजी म० कहा करते थे कि दीपक की उपमा सामान्य बुद्धि वालों की अपेक्षा से है और सूर्य की उपमा विशेष ज्ञानियों की अपेक्षा से है।

जैसे विवाह के अवसर पर कन्यापक्ष की ओर से थाल, कटोरा आदि बरतन दहेज में दिये जाते हैं। उन वर्तनों को एक तरफ रख दिया जाय और काम में न लिया जाय। उन पर वर्षा का पानी गिरे, चूहे उन पर पेशाब कर दें और उन पर रेत जम जाय और वे बिलकुल मैले हो जाएँ। ऐसी स्थिति में उन्हें सूर्य के प्रकाश में रक्खोगे तो उन पर प्रकाश तो पड़ेगा, किन्तु अत्यल्प इसके विपरीत यदि उन बरतनों का प्रति दिन उपयोग किया जाय और मल-मल कर साफ किया जाय और इस कारण वे चमचमाते हुए हों और फिर उन्हें सूर्य की धूप में रक्खा जाय तो उन पर विशेष रूप से प्रकाश पड़ेगा—उनमें से बहुत चमक निकलेगी। इसी प्रकार जिन की आत्मा मलीन हो रही है, उन पर भगवान् की वाणी का असर कम होता है, किन्तु जिनकी आत्मा में सम्यक्त्व की निर्मलता है और जो सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न हैं, उन पर भगवान् के उपदेश का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। जैसे सूर्य के प्रकाश में पदार्थ एकदम साफ दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार भगवान् की वाणी श्रवण कर उन्हें भी तत्त्वों का सुस्पष्ट बोध प्राप्त हो जाता है।

यह विभिन्नता प्रदर्शित करने के लिए भगवान् को उपर्युक्त दो उपमाओं से उपमित किया गया है। ऊपर जो दो समाधान दिये गये हैं, उन्हीं के प्रकाश में अन्य पदों के सम्बन्ध में भी समाधान प्राप्त किया जा सकता है।

फिर कहा गया है—'अभयदयाणं।' अर्थात् तीर्थंकर भगवान् अभय देने वाले हैं। आपको भलीभांति ज्ञात ही है कि सारा संसार भय से ग्रस्त है और वह भय भी एक प्रकार का नहीं, अनेक प्रकार का है तथा सामान्य नहीं, उत्कट है। किसी को धन के वियोग का, किसी को जन के वियोग का, किसी को अपयश का तो किसी को रोग आदि का भय सता रहा है। भगवान् ने अपने उपदेश द्वारा ऐसा मन्त्र बतलाया है कि उस एक ही मंत्र से समस्त भय भाग जाते हैं। उन्होंने बतलाया कि भय मात्र का मूल मोह है। मोह का त्याग कर देने पर भय का नाम-निशान नहीं रहेगा। धन, जन, तन आदि के प्रति अगर ममता न रहे तो उनके वियोग का भय भी न रहेगा। इस प्रकार भगवान् ने प्राणी मात्र को अभय का मंत्र प्रदान किया है और अपनी ओर से किसी को भय न देकर भी अभय दान दिया है।

फिर कहा गया है—'चक्खुदयाणं।' भगवान् तीर्थंकर संसारी जीवों को चक्षु-ज्ञान नेत्र-देने वाले हैं। जैसे चक्षु होने पर कुपथ-सुपथ दिखाई देता है, उसी प्रकार भगवान् जगत् के जीवों को कुपथ और सुपथ दिखलाते हैं। कृत्य-अकृत्य का बोध प्रदान करते हैं और एक सिद्धि का सन्मार्ग प्रदर्शित करते हैं। उसे जान कर भव्य जीव कुपथ का परित्याग कर सुपथ का अवलम्बन करते हैं।

तत्पश्चात् भगवान् को 'मग्गदयाणं' कहा गया है। भगवान् मार्गप्रदर्शन करने वाले हैं। चक्षु होने पर मार्ग दिखलाई देने लगता है कि यह निष्कंटक मार्ग है या कंटकाकीर्ण मार्ग है? इसी प्रकार भगवान् मोक्ष का मार्ग बतलाने वाले हैं। संसार का मार्ग बतलाने वालों की कमी नहीं है, परन्तु शिवपथ दिखलाने वाले तो केवल भगवान् ही थे।

फिर कहा गया है-'सरणदयाणं।' अर्थात् भगवान् शरण देने वाले थे। जैसे किसी दयालु ने किसी भूलेभटके को मार्ग बतला दिया और साथ ही मार्ग में सुरक्षा के लिए आदमी भी साथ में भेज दिया तो वह शरण देने वाला एवं विशेष उपकारी समझा जाता है। भगवान् मार्ग बतलाने वाले तो हैं ही, साथ ही शरण देने वाले भी हैं।

फिर भगवान् को 'जीवदयाणं'' कहा गया है। अर्थात् वे जीवनदाता थे। उन्होंने जगत् को धर्मरूप एवं संयमरूप जीवन प्रदान किया है।

तत्पश्चात् भगवान् को 'बोहिदयाणं' तथा 'धम्मदयाणं' गया है। भगवान् सम्यक्त्व रूप बोधि के तथा श्रुत-चारित्र धर्म के दातार हैं।

देवीलालजी महाराज एक विद्वान् सन्त हुए हैं। उन्होंने भगवान् की गुणस्तुति करते हुए एक भजन में कहा है—प्रभो! आप छह प्रकार की सम्पत्ति के दातार हैं। और वही छह बातें 'नमुत्थुणं' के पाठ में अभयदयाणं, चक्खुदयाणं, जीवदयाणं,

बोहिदयाणं, धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, इन शब्दों में बतलाई गई हैं। इस संबंध में वे एक दृष्टान्त सुनाया करते थे।

एक बार किसी नगर में डाकुओं के गिरोह ने एक सेठ के यहां डाका डाला। डाकू धन भी लूट कर ले गए और सेठ को भी पकड़कर ले गए। उन्होंने सेठ की आंखें बांध दीं और जंगल में लेजाकर एक पेड़ से बांध दिया। वे वहां से रफूचक्कर हो गए।

सेठ को अब कुछ भी नहीं दिखाई देता है और न अपने छुटकारे का उपाय सूझता है और न यही मालूम होता है कि मैं कहां हूँ और किस ओर जाना है? ऐसी संकटकालीन स्थिति में भाग्यवशात् किसी नगर का राजा किसी कार्य से वहां जा पहुँचता है। वह ज्यों ही उस सेठ के पास से गुजरता है, उसकी दृष्टि सेठ पर पड़ती है। जनहीन जंगल में किसी मनुष्य को ऐसी स्थिति में देख कर मनुष्य को दया उत्पन्न होना स्वाभाविक है। राजा को भी दया आ गई। वह घोड़े से उतर पड़ता है और सेठ के पास जाकर उसे भयमुक्त करता है। उसकी आंखों की पट्टी खोल देता है और बन्धन भी दूर कर देता है।

तो जैसे वह राजा सेठ के करुण क्रन्दन को सुनकर उसके पास गया और बोला—मुझसे डर मत। मैं चोर नहीं हूँ, बल्कि राजा हूं और तेरी रक्षा के लिए आया हूँ; तो वह सेठ निर्भय हो गया और मरने का डर उसके दिल से निकल गया। जब सेठ को दिखाई देने लगा तो वह पूछता है—सेठ, अब बतलाओ कि तुम्हें कहां जाना है?

सेठ कहता है—दयालु राजन् ! मैं अमुक गांव का निवासी हूं और वहीं जाना चाहता हूं।

सेठ की बात सुन कर राजा ने कहा—देखो, यह रास्ता सीधा तुम्हारे गांव को जाता है। इससे चले जाओ। मैं तुम्हारी रक्षा के लिए अपना आदमी भी साथ भेज देता हूं, ताकि रास्ते में कोई खतरा न हो। इतना कह कर राजा ने सेठ को सावधान कर दिया—देखो, आगे से सावधान रहना, जिससे फिर कभी डाकू पकड़ कर ऐसी दुर्गति न करें।

इसी प्रकार तीर्थङ्कर भगवान् भी ज्ञान रूपी चक्षु देने वाले, मोक्ष का मार्ग बतलाने वाले, शरण देने वाले, संयम-जीवन को देने वाले, सम्यक्त्व रूप बोधिबीज को देने वाले, धर्म को देने वाले और धर्म देशना देने वाले हैं।

जब जीव इस प्रकार भगवान के द्वारा छह चीजें प्राप्त कर लेता है तो निर्भय बन जाता है और फिर मोक्ष में पहुँच जाता है।

भगवान् को 'धम्मदयाणं' अर्थात् धर्म को देने वाले कहा है, तो धर्म का अर्थ क्या है ! हमें इस पर भी विचार करना चाहिये एक जैनाचार्य कहते हैं—

वत्थुसहावो धम्मो।

अर्थात् वस्तु का स्वरूप ही धर्म कहलाता है। श्री ठाणांगसूत्र में श्रुत और चारित्र को धर्म कहा है। वहां ग्रामधर्म आदि दस प्रकार के धर्मों का भी कथन किया गया है। कहीं-कहीं दान,

शील, तप और भावना को धर्म माना गया है। कहीं 'चारित्तं खलु धम्मो' कह कर चारित्र को धर्म बतलाया है। तब आशंका हो सकती है कि यहां कौनसा धर्म समझना चाहिये ? इस का उत्तर यह है कि उपर्युक्त वाक्यों में अन्तर भले ही हों, मगर उनके आशय में भिन्नता नहीं है। विरोध तो है ही नहीं। वास्तव में जिस श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान से आत्मा दुर्गति से बच कर सद्गति प्राप्त करता है और अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्तकर लेता है, वही धर्म है। तीर्थङ्कर भगवान् ऐसे ही धर्म के दातार और उपदेशक हैं।

भगवान् धर्म के नेता भी थे। नेता के बताये मार्ग पर चलने से सुख प्राप्त होता है।

भगवान् को 'धम्मसारहीणं' कहा गया है, अर्थात् वे धर्म के सारथी थे। जैसे रथ चलाने वाला सारथी कुशल होता है तो रथ मे वैठने वाले निर्विघ्न अपनी मंजिल तक पहुच जाते हैं और अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। उसी प्रकार भगवान् संघ के कुशल संचालन में श्रमणसंघ बिना किसी विघ्न बाधा के अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। अतएव भगवान् धर्म रूपी रथ के सारथी हैं।

जैसे चक्रवर्त्ती चारों दिशाओं के अन्त तक अर्थात् सम्पूर्ण भरतक्षेत्र का अन्त करता है, छहों खण्डो पर अखण्ड शासन करता है, वैसे ही भगवान् महावीर भी चारों गतियों का अन्त करने वाले थे। इस कारण उन्हें 'धम्मवरचाउरन्तचक्कवट्टीणं' कहा गया है।

भगवान् को 'दीवो·ताणं' कहा है, अर्थात् भगवान् संसार समुद्र में द्वीप के समान त्राण·रक्षण करने वाले हैं। समुद्र में चारों ओर पानी ही पानी होता है। कोई समुद्री यात्री किसी तूफान में फँस जाय और जहाज नष्ट हो जाय और उसे जीवन की आशा न रहे, ऐसे समय में यदि अकस्मात् कोई द्वीप मिल जाय तो उसका त्राण हो जाता है, इसी प्रकार भगवान् भी त्राण देने वाले हैं।

फिर भगवान् को 'सरण·गइ·पइट्ठाणं' विशेषण भी लगाया गया है, अर्थात् भगवान् शरणरूप, गतिरूप और आधार· भूत है। इस संसार में तीर्थङ्कर भगवान् ही सर्वोत्तम शरण है, गति हैं और आश्रय दाता हैं। जोभी भव्य प्राणी भगवान् के चरणों में चला जाता है, वह चारों गतियों का अन्त करके शाश्वत मुक्तिस्थान प्राप्त कर लेता है। कोई कमजोर व्यक्ति यदि बलवान की शरण ले लेता है तो वह आसानी से संकट को लांग जाता है।

तत्पश्चात् भगवान् को 'अप्पडिहय वरनाणदंसण धराणं' कहा है। अर्थात् भगवान् अप्रतिहत केवल ज्ञान और केवल दर्शन को धारण करने वाले हैं। उनका ज्ञान दर्शन क्षायिक होता है अतएव उसमें किसी प्रकार की रूकावट नहीं होती। देश और काल की दूरी से अथवा दीवाल आदि के कारण केवली का ज्ञान दर्शन रूकता नहीं है। वे सर्वदेश और सर्व काल को तथा समस्त भावों को युगपत् जानते हैं।

आगे कहा गया है 'वियहछउमाणं' अर्थात् भगवान कषाय से पूरी तरह निवृत्त हो चूके थे, अतः छद्मस्थावस्था को भी पार कर चूके थे।

राग-द्वेष को जीतने के कारण भगवान जिन कहलाते हैं और दूसरों को जीतने का उपदेश देने के कारण जिताने वाले भी हैं। अतएव भगवान को 'जिणाणं, जावयाणं' कहा है। यों तो अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी भी जिन कहलाते हैं, मगर भगवान तीर्थङ्कर पद से जिन थे। जो भी जिज्ञासु होकर उनके निकट जाता था, उसे यही मार्ग बतलाते थे कि-ए भव्य! राग द्वेष को जीतो।

छिंदाहि दोसं, विणएज्ज रागं।

भगवान की वाणी सुन कर जिसे अपना हित समझ में आजाता था, वह राग द्वेष को जीतने के ही मार्ग पर चलता था। और जो राग-द्वेष को जीत लेता है वह कर्म बन्ध से बच कर सुखी हो जाता है।

भगवान चतुर्गति रूप संसार से स्वयं तिरने वाले और दूसरों को तारने वाले थे। अतएव वे 'तिण्णाणं, तारयाणं' भी थे। भगवान उस यानपात्र के समान थे जो स्वयं भी समुद्र के पार पहुँचता है और अपना आश्रय लेने वालों को भी पार लगाता है।

तिरना और तारना उसी के लिए संभव हो सकता है, जो वस्तुस्वरूप को स्वयं जानता हो और दूसरों को जना सकता हो। अतएव भगवान को 'बुद्धाणं बोहयाणं' भी कहा गया है। भगवान सर्वज्ञ होने के कारण स्वयं तत्त्वों के ज्ञाता थे और दूसरों को भी उनका बोध कराते थे।

जो वास्तविक बोध प्राप्त कर लेता है, वह स्वयं मुक्त हो जाता है और जो दूसरों को बोध देता है, वह उन्हें मुक्त कर देता है, क्यों कि बोध का फल चारित्र है और चारित्र मुक्तिदाता है। इसी कारण भगवान को 'मुत्ताणं मोयगाणं' विशेषण दिया गया है। भगवान महावीर स्वयं चार घातिया कर्मों से रहित हो चूके थे और दूसरों को भी कर्म रहित होने का मार्ग बतलाते थे।

भाइयो ! आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध प्रवाह रूप से अनादि कालीन है, तथापि पुरुषार्थ करने से कर्मों का क्षय हो सकता है। भगवान ने स्वयं अपने कर्मक्षय के लिए संवर-निर्जरा की आराधना की और दूसरों को भी कर्मक्षय का उपदेश दिया और उपाय बतलाया।

आगे कहा गया है—'सव्वन्नूणं, सव्वदरिसीणं।' अर्थात् भगवान् सभी कुछ जानने वाले और सभी कुछ देखने वाले हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शन के धारक होने से प्रभु सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं।

आगे बतलाया है—'सिवमचलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाह-मपुणरावित्ति सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं' अर्थात् भगवान् शिव, अचल, अरुज, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध और पुनरागमन रहित सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त थे।

भगवान् ने जो मोक्षपद प्राप्त किया, उसकी विशेषताएँ बतलाने के लिए यहां कई विशेषण दिये गये हैं। मोक्ष शिव अर्थात् सब प्रकार के उपद्रवों से रहित है। अच्छे से अच्छे राजा के राज्य में भी कभी अग्नि, पानी, भूकम्प, डाकू आदि के भय

की संभावना रहती है, मगर भगवान् तीर्थङ्करों की आत्माएँ ऐसे स्थान पर पहुंची हैं, जहां किसी प्रकार का भय ही नहीं है। भय शरीर के सम्पर्क के कारण होता है। जहां शरीर ही नहीं, वहां किसी प्रकार का उपद्रव नहीं हो सकता और वहां किसी प्रकार का भय नहीं है।

मोक्ष, 'अचल' है। संसार में रहने वाली आत्मा तो कर्मोदय के अनुसार भ्रमण करती रहती है, परन्तु मुक्ति प्राप्त होने के पश्चात् आत्मा का भवभ्रमण समाप्त हो जाता है और वह चलायमान नहीं होती।

मोक्ष रोगों से भी रहित है। रोगों का आश्रय शरीर है। जो शरीरवान् है, उसी को शारीरिक और मानसिक व्याधियां पीड़ा पहुंचाती हैं। भगवान् स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर से मुक्त हो चुके हैं, अतएव रोगों से सर्वथा रहित हैं। भगवान् रोगमुक्त है इसी कारण हम भी प्रभु से आरोग्य (भावरोगों के अभाव) के लिए प्रार्थना करते हैं। यथा—'आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवर-मुत्तमं दिंतु।'

मोक्ष अनन्त है। एक वार प्राप्त होने पर फिर कभी उसका अन्त नहीं होता। कर्म ही कर्म को उत्पन्न करते हैं और कर्म के कारण ही संसारपरिभ्रमण होता है। जहां कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाता है, वहां संसार भ्रमण की संभावना भी नहीं की जा सकती। यही कारण है कि एक वार मोक्ष प्राप्त कर लेने पर उसका अन्त नहीं होता। मोक्ष में ज्ञानादि गुण अनन्त होते हैं, इस कारण भी उसे अनन्त कहते हैं।

मोक्ष अक्षय भी है, अर्थात् उसका कभी क्षय नहीं होता। अनन्त काल तक भी मुक्तात्माओं के ज्ञानादि गुणों में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। एक बार निष्कर्म होने पर जो गुण जिस मात्रा में प्राप्त होते हैं, उसी मात्रा में वे सदैव बने रहते हैं।

मोक्ष में अव्याबाध सुख है। सुख तो संसार में भी मालूम होता है किन्तु वह वास्तविक सुख नहीं, सुखाभास है। सांसा- सुख अनेक दुःखों का कारण होने से वस्तुतः दुःखरूप ही है। फिर वह सुख अनेक प्रकार की बाधाओं-पीड़ाओं से युक्त होता है और पराश्रित होने के कारण स्थायी भी नही होता। किन्तु मोक्षसुख सर्वथा बाधारहित है, स्वाधीन है, अनन्त है। अतएव वही सच्चा सुख है।

मोक्ष 'अपुनरावृत्ति' है, अर्थात् जिस आत्मा ने एक बार मोक्ष प्राप्त कर लिया, उसे फिर कभी भवभ्रमण नहीं करना पड़ता, कई लोग कहते हैं कि मुक्त जीव भी कुछ काल के बाद संसार में आ जाता है, परन्तु जैसे बीज के जल जाने पर अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार कर्म-बीज के दग्ध हो जाने पर भव रूप अंकुर भी उत्पन्न नहीं हो सकता।

आर्य सुधर्मा स्वामी कहते हैं—हे जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर इस प्रकार की विशेषताओं से विभूषित थे। उन्होंने द्वादशांग गणिपिटक की अर्थात् बारह अंग रूपी पेटी की प्ररूपणा की है। जैसे धनवानों को रत्न आदि मूल्यवान् पदार्थों की पेटी प्रिय होती है, उसी प्रकार आचार्य के लिए यह पेटी प्रिय और सारभूत है।

गणिपिटक में बारह अंग हैं, जिनमें आचारांग प्रथम है।

१—आचारांग—आचारांग में साधु के आचार का वर्णन किया गया है। वह दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। पहले श्रुतस्कन्ध में प्रारम्भ में यह बतलाया गया है कि अनेक जीवों को आत्मा के विषय में जानकारी नहीं होती। वे नहीं जानते कि आत्मा का पुनर्जन्म होता है या नहीं? मैं कहां से आया हूं और कहां जाऊंगा? आदि। तत्पश्चात् साधु के आभ्यन्तर आचार का सुन्दर वर्णन किया गया है। इस प्रथम श्रुतस्कन्ध में अर्थगंभीर सूक्तियों की बहुतायत है दूसरे श्रुतस्कंध में बाह्य क्रियाओं का वर्णन किया गया है।

२—सूत्रकृतांग-दूसरे अंग का नाम सूत्रकृतांग है। इस शास्त्र में स्वसमय और परसमय का विशद विवेचन है। तेईस अध्ययनों में लम्बा-चौड़ा विस्तार किया गया है।

३—स्थानांग-इसमें समस्त पदार्थों का एक से लेकर दस तक की संख्या में अवतार किया गया है। अर्थात एक बोल से लगा कर दस बोलों तक का वर्णन है।

४—समवायांग-यह भी ठाणांग के समान शैली पर है, मगर दस बोलों तक सीमित नहीं है। इसमें आगे की संख्या वाले भी विविध पदार्थों का वर्णन है।

५—विवाहपण्णत्ति-इसका दूसरा नाम 'भगवती' भी है। इसमें ३६ हजार प्रश्नों के उत्तर हैं। बृहत्काय शास्त्र है और विविध विषयों के विवेचन से विभूषित है।

६—ज्ञातधर्मकथांग-इसमें विविध ज्ञातों अर्थात् उदाहरणों

का तथा धर्मकथाओं का वर्णन है। धर्मकथा के द्वारा तत्त्व को समझाया गया है। इन कथाओं को सुन कर सुनने वाले की आत्मा पर गहरा असर पड़ता है और वह अशुभ कार्य से प्रवृत्ति हटा कर शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करने लगता है।

७—उपासकदशांग-इसमें भगवान् महावीर के मुख्य दस श्रावकों का जीवनवृत्तान्त बताया गया है। वैसे तो भगवान् महावीर के एक लाख उनसठ हजार श्रावक हुए हैं, मगर उनमें से विशिष्ट दस श्रावकों का ही इसमें कथन है। साथ ही श्रावक के बारह व्रतों और उनके अतिचारों का भी विवेचन है।

८—अन्तकृद्दशांग-इसमें उन अन्तकृत् नव्वे महापुरुषों का वर्णन है जिन्होंने अन्तिम समय में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त किया है।

९—अनुत्तरौपपातिक-इसमें उन महात्माओं का वृत्तान्त है जो शुभ क्रिया करके विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध नामक पांच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए हैं और भविष्य में मनुष्यभव धारण करके मोक्ष प्राप्त करेंगे।

१०—प्रश्नव्याकरण-इस अंग में पूर्वकाल में विविध प्रश्नों और विद्याओं का वर्णन था। किसी ने कोई प्रश्न पूछा तो अंगूठे से उत्तर देने के लिए कह दिया और अंगूठा उसका उत्तर देता है। यह काम हरेक से नहीं होता है। यह दैवी चमत्कार है। देवता उसमें प्रवेश करके उत्तर देता है।

विक्रमादित्य राजा के चार बोल छपे हैं उनमें बतलाया गया है कि राजा लीलावती से विवाह करने को गया तो वह झावड़ी से बुलवाता और हार से बुलवाता था। उसने आगिया देव को आर्डर दिया—जाओ और उत्तर दो। तो वह पदार्थ उत्तर दे देता था। उसे सिंह बनने की विद्या भी आती थी और नाना देवताओं को आह्वान करके बुलाने की विद्या भी आती थी।

तो मूल प्रश्नव्याकरण सूत्र में नाना प्रकार की विद्याओं और मन्त्रों का वर्णन था, परन्तु वे सब निकाल दिये गये हैं। अभी तो केवल पांच आस्रवों और पांच अहिंसा आदि संवरों का ही वर्णन है। अब भी यह सूत्र अपनी शैली के कारण निराला ही है।

११—विपाकसूत्र-इसमें पापाचरण के फलस्वरूप दुःख भोगने वालों का तथा धर्म-पुण्य का अनुष्ठान करने के कारण सुख भोगने वालों का वर्णन है। इस प्रकार यह सूत्र कर्म के विपाक का दर्शक है।

१२—दृष्टिवाद-यह अंग सभी अंगों से विशाल और समस्त पदार्थों की प्ररूपणा करने वाला था। उसमें विचित्र भावों का समावेश था। कुछ सूत्र ऐसे थे कि एक नय से पढ़े जाएँ तो उनमें भगवान् महावीर का सिद्धान्त मालूम पड़ता था और दूसरे नय से पढ़ने पर गोशालक का मन्तव्य प्रतीत होने लगता था। अपेक्षा के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है।

दृष्टिवाद पांच भागों में विभक्त था। इन्हीं पांच भागों में से एक भाग पूर्वों का है, जिनकी संख्या चौदह थी। यह चौदह

पूर्व भी अत्यन्त विशाल थे और इनकी विशालता से दृष्टिवाद की विशालता का अन्दाज किया जा सकता है। खेद है कि कालदोष से दृष्टिवादसूत्र पूरा का पूरा विच्छिन्न हो चुका है। कुछ काल तक पूर्वों का ज्ञान रहा, मगर फिर उनका भी विच्छेद हो गया।

बत्तीस सूत्रों को मन्दिरमार्गी और स्थानकवासी दोनों प्रमाणभूत स्वीकार करते हैं, किन्तु विचारभेद से कहीं कहीं अर्थ में अन्तर पड़ जाता है। पूज्य खूबचन्दजी म० ने एक दोहा कहा है:—

नौ सौ कागज लावजो, भूपति आज्ञा दीन।
'खूब' एक ही पाद के, अर्थ होत हैं तीन॥

किसी राजा ने अपने कर्मचारी को आदेश दिया कि 'बाजार जाओ और नौ सौ कागज लेकर आओ।' यहां 'नौ सौ कागज लावजो' इस पद के कई अर्थ हो सकते हैं। एक अर्थ तो स्पष्ट ही मालूम होता है कि गिनती में नौ सौ हों, इतने कागज लाना। मगर 'कागज' में से 'का' को अलग करके पढ़ा जाय तो अर्थ निकलता है—नौ सौ रुपयों की कीमत का गज (हाथी) लाना। यह दूसरा अर्थ हो गया। अब यदि 'कागज' शब्द में के 'ज' को 'लावजो' के साथ मिला कर पढ़ा जाय तो तीसरा ही अर्थ हो जाता है, अर्थात् 'नौ सौ काग जलावजो' यानी नौ सौ कौओं को जलाना।

इसी प्रकार सूत्रों में अमुक-अमुक स्थल पर पद तो वही का वही रहता है, परन्तु जब पढ़ने वाला पढ़ता है तो अर्थ अलग अलग लगा लेता है।

जहां आग्रह है वहीं मतभेद और झगड़ा है। जब मनुष्य अनेकान्तदृष्टि को विस्मृत कर देता है और कहने लगता है कि ऐसा नहीं, ऐसा ही है, तो मतभेद खड़ा हो जाता है। अनेकान्तवाद के अनुसरण से समस्त विरोधों का उपशमन हो जाता है। विभिन्न दृष्टिकोणों से सत्य को समझने का प्रयत्न करने वाला ही वास्तविक सत्य तक पहुंच पाता है। एकान्तवाद मनुष्य को सत्य से वंचित करता है, मस्तिष्क में संकीर्णता उत्पन्न करता है और अज्ञान के अन्धकार में ही भटकाता रहता है।

इस प्रकार भगवान सुधर्मा स्वामी ने भगवान् महावीर की स्तुति करके उनका परिचय दिया है और फिर १२ अंगों की प्ररूपणा की है।

अमरसेन वीरसेन चरित–

कल से प्रारम्भ किये गये चरित को भी आगे बढ़ाना है। कल बतलाया गया था कि एक छोटे-से गांव के रहने वाले अमरसेन और वीरसेन नामक दो बालक माता-पिता की मृत्यु हो जाने पर जीवननिर्वाह के विचार से गांव से निकले और हस्तिनापुर में पहुंचे। वहां जिनदास सेठ के सामने उन्होंने अपनी दुःखकथा सुनाई। सेठ को दया उपजी और उसने आश्वासन देकर उन्हें अपने यहां रख लिया।

जिनदास सेठ ने उनमें से एक को कहा—देखो, अपने यहां पशु बहुत हैं। तुम उन्हें प्रातःकाल जंगल में चराने ले जाया करो और सन्ध्या समय वापिस ले आया करो। वह सेठ के

आदेशानुसार पशुओं को चराने ले जाता और शाम को ले आता। दोपहर में खाने के लिए उसके साथ भाता बांध दिया जाता था। इस प्रकार एक भाई का कार्यक्रम चलने लगा।

सेठ ने दूसरे भाई से कहा—देखो, तुम्हारा काम यह होगा कि मैं, सेठानीजी या घर के दूसरे लोग जो काम करने को कहें, उसे प्रसन्नतापूर्वक करना। भोजन चौके में किया करना।

इस प्रकार दूसरा भाई भी तन-मन से आज्ञापालन करता हुआ समय व्यतीत करने लगा। वह प्रसन्नतापूर्व सब का काम करता था, अतएव घर के सभी लोग उससे प्रसन्न रहने लगे कहावत प्रसिद्ध है—'काम प्यारा होता है, चाम नहीं।' यह भी कहा जाता है कि जिसने काम कर दिया उसने कामण कर दिया। इस नीति का अनुसरण करते हुए वह अपने शरीर को शरीर न समझता हुआ, प्रत्येक के प्रत्येक हुक्म का फौरन पालन करता और दौड़-दौड़कर शीघ्र उसे बुद्धिमता के साथ पूरा ता था।

इस प्रकार दोनों भाइयों का समय सेठ के घर शान्तिपूर्वक व्यतीत होने लगा।

मनुष्य का नैतिक कर्त्तव्य है कि उसने जो काम अपने जिम्मे लिया है, उसे प्रामाणिकता के साथ पूरा करे, जो अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को नहीं निभाता, वह दूसरों की दृष्टि में गिर जाता है। इसके अतिरिक्त काम से जी चुराने वाला व्यक्ति निठल्ला, प्रमादी और बेकार होकर अपने जीवन को विनाश की ओर ले जाता है।

जिनदास सेठ बड़ा धर्मात्मा था उसका हृदय करुणा से ओतप्रोत रहता, अनीतिपूर्वक व्यापार नहीं करता. दीन-दुखियों की सहायता करता और श्रावकोचित कर्त्तव्यों का पालन करता था।

स्थानांगसूत्र में चार प्रकार के श्रावक बतलाए गए हैं। कोई २ श्रावक साधुओं के लिए माता-पिता के समान होते हैं, जैसे मां-बाप अपनी सन्तान की हर तरह रक्षा करते हैं, उसी प्रकार वे श्रावक माता पिता की तरह साधुओं की रक्षा करते हैं, कदाचित् कोई साधु या साध्वी गलत रास्ते पर चला जाय तो उसे रास्ते पर लाने की कोशिश करते हैं, किन्तु उस बुराई का ढोल नहीं पीटते। यदि कोई पिता अपने पुत्र के पाप को उघाड़ेगा तो साथ में उसकी भी बुराई होगी और ऐसा करने से पुत्र का हित नहीं हो जाएगा, यदि एक जैन समाज के किसी व्यक्ति की बुराई करता है तो वह एक प्रकार से समाज की बुराई करता है, क्योंकि वह व्यक्ति अन्ततः समाज का ही एक अंग है—व्यक्ति-व्यक्ति मिलकर ही समाज बनता है। तो ये श्रावक, साधु की हितभावना मन में रखकर उसे संयममार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं, मगर निन्दा नहीं करते।

कोई-कोई श्रावक भाई के समान होते हैं, कभी-कभी भाई-भाई भी आपस में लड़ पड़ते हैं तथापि जब अवसर आता है तो भाई-भाई की सहायता करता ही है। इसी प्रकार जो श्रावक अवसर आने पर साधु की सेवा-सहायता करते हैं, वे भाई के समान कहलाते हैं।

आदेशानुसार पशुओं को चराने ले जाता और शाम को ले आता। दोपहर में खाने के लिए उसके साथ भाता बांध दिया जाता था। इस प्रकार एक भाई का कार्यक्रम चलने लगा।

सेठ ने दूसरे भाई से कहा—देखो, तुम्हारा काम यह होगा कि मैं, सेठानीजी या घर के दूसरे लोग जो काम करने को कहें, उसे प्रसन्नतापूर्वक करना। भोजन चौके में किया करना।

इस प्रकार दूसरा भाई भी तन-मन से आज्ञापालन करता हुआ समय व्यतीत करने लगा। वह प्रसन्नतापूर्व सब का काम करता था, अतएव घर के सभी लोग उससे प्रसन्न रहने लगे कहावत प्रसिद्ध है—'काम प्यारा होता है, चाम नहीं।' यह भी कहा जाता है कि जिसने काम कर दिया उसने कामण कर दिया। इस नीति का अनुसरण करते हुए वह अपने शरीर को शरीर न समझता हुआ, प्रत्येक के प्रत्येक हुक्म का फौरन पालन करता और दौड़-दौड़कर शीघ्र उसे बुद्धिमता के साथ पूरा करता था।

इस प्रकार दोनों भाइयों का समय सेठ के घर शान्तिपूर्वक व्यतीत होने लगा।

मनुष्य का नैतिक कर्त्तव्य है कि उसने जो काम अपने जिम्मे लिया है, उसे प्रामाणिकता के साथ पुरा करे, जो अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को नहीं निभाता, वह दूसरों की दृष्टि में गिर जाता है। इसके अतिरिक्त काम से जी चुराने वाला व्यक्ति निठल्ला, प्रमादी और वेकार होकर अपने जीवन को विनाश की ओर ले जाता है।

जिनदास सेठ बड़ा धर्मात्मा था उसका हृदय करुणा से ओतप्रोत रहता, अनीतिपूर्वक व्यापार नहीं करता, दीन-दुखियों की सहायता करता और श्रावकोचित कर्त्तव्यों का पालन करता था।

स्थानांगसूत्र में चार प्रकार के श्रावक बतलाए गए हैं। कोई २ श्रावक साधुओं के लिए माता-पिता के समान होते हैं, जैसे मां-बाप अपनी सन्तान की हर तरह रक्षा करते हैं, उसी प्रकार वे श्रावक माता पिता की तरह साधुओं की रक्षा करते हैं, कदाचित् कोई साधु या साध्वी गलत रास्ते पर चला जाय तो उसे रास्ते पर लाने की कोशिश करते हैं, किन्तु उस बुराई का ढोल नहीं पीटते। यदि कोई पिता अपने पुत्र के पाप को उघाड़ेगा तो साथ में उसकी भी बुराई होगी और ऐसा करने से पुत्र का हित नहीं हो जाएगा, यदि एक जैन समाज के किसी व्यक्ति की बुराई करता है तो वह एक प्रकार से समाज की बुराई करता है, क्योंकि वह व्यक्ति अन्ततः समाज का ही एक अंग है—व्यक्ति-व्यक्ति मिलकर ही समाज बनता है। तो ये श्रावक, साधु की हितभावना मन में रखकर उसे संयममार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं, मगर निन्दा नहीं करते।

कोई-कोई श्रावक भाई के समान होते हैं, कभी-कभी भाई-भाई भी आपस में लड़ पड़ते हैं तथापि जब अवसर आता है तो भाई-भाई की सहायता करता ही है। इसी प्रकार जो श्रावक अवसर आने पर साधु की सेवा-सहायता करते हैं, वे भाई के समान कहलाते हैं।

तीसरे प्रकार के श्रावक मित्र के समान होते हैं, यों तो मित्र-मित्र के साथ खाता, पीता और मौज उड़ाता है, परन्तु जब मित्र पर कोई संकट आ पड़ता है तो अपने प्राणों की बाजी लगाने में संकोच नहीं करता और अपने मित्र की रक्षा करता है।

चौथे प्रकार के श्रावक सौत के समान होते हैं। सौत के हृदय में सौत के प्रति घोर ईर्षा बनी रहती है और वह उसे नीचा दिखाने का ही विचार करती रहती है और जब अवसर पाती है तो नीचा दिखलाती भी है। इसी प्रकार कई श्रावक, साधु को नीचा दिखलाने का अवसर देखते रहते हैं और जब उन्हें मौका मिलता है तो उसका लाभ उठाने से नहीं चूकते। ऐसे श्रावक सौत के समान हैं।

तो जिनदास सेठ प्रथम कोटि का श्रावक था और साधु-साध्वियों के लिए माता-पिता के समान था।

आपको विदित ही है कि मेरा जन्म मन्दसौर में हुआ है। वहां गौतमजी नामक एक श्रावक थे। उन्हें इतना विवेक था कि कोई भी साधु-साध्वी गोचरी के लिए उनके घर जाता तो वह मौसिम के अनुकूल चीज ही उन्हें थामते थे। मैं पंजाब में गया तो देखा कि वहां श्रावकों के घरों में गर्मी के दिनों में धोवन पानी और सर्दी के दिनों में गर्म पानी मौजूद रहता है। परन्तु ऐसा विवेक किसी किसी में ही होता है और जिसमें होता है, उसी की हम बात करते हैं। हम साधु घुमक्कड़ हैं। देश- देश और नगर नगर में भ्रमण करते हैं। जहां जिससे काम पड़ता है, समय पर उन्हें स्मरण भी करते हैं।

मैं दिल्ली में बहुत अर्से तक रहा हूं। वहां कई श्रावक माता पिता के समान हैं।

आप अपने मजा-मौज और स्वार्थ के लिए हजारों रुपया खर्च कर देते हैं, परन्तु जो सन्तान से भी अधिक साधुओं की सेवा करता है, उसी को भगवान् ने माता पिता की उपमा दी है।

जिनदास सेठ साधुओं के लिए माता-पिता के समान था। वह अपने गुणों में रमण करने वाला भी था। उसे जिनवाणी बड़ी प्यारी लगती थी। जब कभी शास्त्रज्ञ साधुओं का समागम होता, वह बड़े चाव से तीर्थङ्कर की वाणी श्रवण करता था। संतों का समागम न होता तो स्वयं स्वाध्याय करता था।

कुछ काल के पश्चात् हस्तिनापुर में साधुओं का आगमन हुआ। आने वाले मुनि बड़े सरलस्वभाव, ज्ञानवान् और संयमपरायण थे। वे पूर्ण ब्रह्मचर्य के आराधक और आत्मगुणों में रमण करने वाले थे।

भाइयो! संसार में साधु भी कई तरह के दृष्टिगोचर होते हैं—सुपात्र, अपात्र और पात्र। पात्र के बिना वस्तु नहीं ठहर सकती है। लेने के लिए पात्र तो चाहिए ही। भगवान् के वचन सुपात्र और पात्र में ही ठहरते हैं। शेरनी का दूध स्वर्णपात्र में ही ठहर सकता है, दूसरे पात्र में नहीं ठहर सकता। इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् का बतलाया धर्म भी पात्र में ही ठहरता है। एक कवि ने कहा है—

न हि वारणपर्याणं, वोढुं शक्तो वनायुजः।

अर्थात्—हाथी का पलान गधा नहीं वहन कर सकता। उस पर वह लाद दिया जाय तो बेचारा उसके भार से ही दब जाएगा।

स्व० पूज्य खूबचन्दजी म० कहा करते थे—

काल दुकाले पेरियो, भूखा मरता भेख।
ते संजम किम पालसी, ज्ञानदृष्टि कर देख॥

जो भूखा मरता पेट पालने के लिए साधु बना है, उससे कैसे आशा की जा सकती है कि वह चौथे आरे का साधु बनेगा। उससे ऐसी आशा नहीं की जा सकती। वह तो पांचवें आरे का ही रहेगा। किसी ने कहा है—

साधु होने में तीन गुण, मिटे दुखों की दाज।
सीधी सी रोटी मिले, लोग कहे महाराज॥

निर्धनता के अभिशाप को सहन न कर सकने-वाला व्यक्ति विचार करता है कि साधु बन जाने से संसार के सारे दुःख दूर हो जाएँगे। बिना कमाये भरपेट भोजन मिलेगा और ऊपर से लोग महाराज-महाराज कह कर मेरी पूजा करेंगे। इस प्रकार भूखे मरने के कारण जिसने साधु का वेष धारण कर लिया है, उससे ऊँची आशा रखना व्यर्थ है। हो सकता है कि ऐसे लोगों में से भी कोई अपने जीवन को सफल बना ले, तथापि प्रायः उनसे अधिक आशा नहीं रक्खी जा सकती। कदाचित् संयोगवश ऐसे लोगों में से किसी को क्रियावान् और ज्ञानवान् गुरु का संसर्ग मिल जाय और उसकी भावना में परिवर्तन हो जाय और उच्चकोटि के गुणों का विकास हो जाय तो वह सच्चा

साधक भी बन सकता है। अन्यथा तो उसकी भावना पेट भरने की ही रहने वाली है। वह तपस्या करेगा तो वह भी दिखाऊ होगी और उसका उद्देश्य माल खाने की सुविधा प्राप्त करना ही होगा। कई तो ऐसे भी मिल सकते हैं जो बाहर से तपस्या का ढोंग करते हैं और भीतर-भीतर पेटपूजा भी करते रहते हैं। ऐसे लोग भगवान् की आज्ञा के चोर हैं और इस कपटाचार का कुफल उन्हें भोगना पड़ेगा। मगर हम तो उन महापुरुषों के गीत गाते हैं, जिन्होंने—

छती रिद्ध छांडी निकल्या, मन वैराग्य विशेष।
ते संजम शुद्ध पालसी, ज्ञानदृष्टि कर देख॥

जिनको ऋद्धि प्राप्त थी, जो प्रभूत वैभव के भण्डार के अधिपति थे, जिन्हें भोगोपभोग के समग्र साधन उपलब्ध थे, सुखसामग्री की कमी नहीं थी, परन्तु जब उस ऋद्धि और वैभव की निस्सारता समझ में आई और वैराग्यभाव की तरंग हृदय में दौड़ गई तो उस सारे वैभव को तिनके की तरह त्याग दिया! ऐसे त्यागी ही सच्चे त्यागी हैं। मानना पड़ेगा कि उनके ही जीवन में सच्चा वैराग्य उत्पन्न हुआ और जब ऐसी बात है तो आशा की जा सकती है कि वे प्रामाणिकता के साथ अच्छी तरह संयम का पालन करेंगे।

इसका आशय यह नहीं है कि अभावग्रस्त, दीन एवं निर्धन जन की दीक्षा वास्तविक दीक्षा ही नहीं है। असली चीज वैराग्य है और वही साधुजीवन का प्राण है। वैराग्य होने पर जो दीक्षा लेता है, वही उच्च संयम का पालन करता है, चाहे वह निर्धन रहा हो या धनवान्, राजा रहा हो या रंक।

दशवैकालिकसूत्र में बतलाया गया है कि सच्चा त्यागी किसे कहना चाहिये और किसे नहीं कहना चाहिए? वहां कहा गया है—

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइ त्ति वुच्चइ॥

—दश०, अ० २, गा० २

भगवान् फर्माते हैं—हे साधक! तू साधु बनकर किसी गृहस्थ के घर भिक्षा के लिए जाता है और वहां तुझे अच्छे-अच्छे वस्त्र नजर आते हैं, सुगंधित द्रव्य दिखाई देते हैं, अलंकारों की चमक तेरी दृष्टि को आकर्षित करती है, स्त्रियां सामने आती हैं और उत्तम शय्या एवं आसन दृष्टिगोचर होते हैं, और उन्हें देखकर तेरे मन में यदि ऐसा विचार उत्पन्न होता है कि अगर यह वस्तुएँ मेरे पास भी होती तो मैं भी इनका उपभोग करता। तो जिसके मन में इन सब पदार्थों के उपभोग की लालसा बनी हुई है, मगर पराधीन होकर विवशता के कारण जो उन्हें भोग नहीं सकता, वह त्यागी नहीं कहलाता। जिसका मन त्यागी नहीं बना, वह भले ही साधु का वेष पहनले और भोग्य पदार्थों का उपभोग न करे, तथापि उसे त्यागी का महान् पद प्राप्त नहीं हो सकता।

तो फिर त्यागी किसे कहना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर इससे आगे दिया गया है—

जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ॥

अर्थात्—जिन भोगों की साधारण संसारी जीव कामना करते हैं, जिन्हें प्रिय समझते हैं, ऐसे भोग स्वतः प्राप्त होने पर भी जो उनसे विमुख हो जाता है, उनकी तरफ से पीठ फेर लेता है और जो स्वेच्छा से भोगों को भुजंग के समान अनर्थकारी समझकर त्याग देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जिसके चित्त में भोग की लालसा ही शेष रह गई है, वही त्यागी कहलाने का अधिकारी है।

तो त्यागी होना और बात है तथा त्याग का बाना पहन लेना और बात है। त्याग को अङ्गीकार करके निभाना और बात है। भगवान् ने साधक को चेतावनी देते हुए कहा है—

जाए सद्धाए निक्खंतो,
तमेव अणुपालये।

—आचारांग

अर्थात्—तू जिस श्रद्धा से जिस उत्कृष्ट वैराग्य से गृह त्याग कर निकला है, उसी श्रद्धा का निरन्तर पालन करना। तेरे वैराग्य में कमी न आने पावे।

हृदय वैराग्य के रंग में रंग जाए और वह वैराग्य स्थायी रहे, यह कोई साधारण बात नहीं है। इसके लिए सत्समागम; सत्संस्कार और निरन्तर स्वाध्याय ध्यान आदि की आवश्यकता होती है।

जो अपने चित्त को सतत वैराग्य से वासित रखते हैं, वही धर्म के पात्र और सुपात्र होते हैं। उन्हीं में धर्म टिक सकता है।

चन्द्रगुप्त राजा को सोलह स्वप्न आए थे। उनमें से एक स्वप्न में राजा ने कमल को उकरड़ी पर उगा देखा था। भद्रबाहु स्वामी ने उसका फलादेश करते हुए बताया था कि तीर्थंकर भगवान् का धर्म जो पात्रों में ही ठहरनेयोग्य है, वाणिकों के पल्ले पड़ जाएगा। उनमें ऐक्य नहीं रहेगा, मतभेद हो जाएगा, मतभेद से मनभेद हो जायगा और उसमें नाना पंथ प्रचलित हो जाएँगे। यह भविष्यवाणी आज प्रत्यक्ष अनुभव में आ रही है। आज कहां है संघ में एकता? भगवान् महावीर का अखण्ड संघ आज छिन्न भिन्न हो गया है और होता जाता है।

तीर्थंकरों का धर्म सिंहनी के दूध के समान है। जहां मजबूती होगी वहीं धर्म टिक सकेगा। कमजोर पात्र में धर्म रूपी दूध नहीं ठहर सकता। अगर पात्र अखण्ड न हो और खण्डित हो गया हो तो उसमें दूध कैसे टिक सकता है? मगर आज जहां देखो वहीं खींचतान चल रही है। सर्वत्र फूट का बाजार गर्म है। दलबन्दियां समाज को शक्तिहीन बना रही हैं। जैनदिवाकरजी महाराज कहा करते थे—

श्वान कहे सुन मानवी, म्हां भी लड़ां भिड़ां।
म्हें तो सूंधी ने एक हो जावां, थांका नहीं टूटे धड़ा-तड़ां।

आपने कभी देखा होगा कि एक कुत्ता दूसरे कुत्ते को देख कर भौंकता है, मगर जब दोनों पास में आते हैं और एक दूसरे को सूंगते हैं तो एक हो जाते हैं। यहां एक कुत्ता मनुष्य से अपनी उत्कृष्टता दिखलाता हुआ कहता है। ऐ मानव! हम आपस में एक दूसरे को भौंकते हैं परन्तु सूंघ कर एक हो जाते

हैं। परन्तु तुम लोग एक नहीं हो सकते। तुम्हारी भौंक तो चलती ही रहती है।

कुत्ते के ब्यान से कवि ने जो उपालंभ दिया है, उसमें कितनी सचाई है ? कितने ही विघ्न संतोषी ऐसे हैं जिन को यही इच्छा रहती है कि लड़ाई-झगड़ा हो और मर्दों की मूछें ऊँची रहें। वे मामूली सी बात को, जिस का कोई महत्व नहीं लेकर अड़ जाते हैं और अपनी बात को ऊँची रखने के लिए संघ और समाज की बड़ी से बड़ी हानि करने में भी संकोच नहीं करते।

तो मैं कह रहा था कि हस्तिनापुर में जो साधु आए थे वे सुपात्र थे। जब जिनदास सेठ को साधुओं के आगमन का वृतान्त विदित हुआ तो उसने उनकी सेवा में जाने का विश्वास किया। तदनुसार जिनदास सेठ अमरसेन और वीरसेन को साथ लेकर मुनि राजों के दर्शनार्थ गया।

किस प्रकार अमरसेन और वीरसेन महा मुनि का उपदेश सुन कर विरक्त होते हैं और व्रत स्वीकार करते हैं, यह सब आगे सुनने से ज्ञात होगा।

इस प्रकार जो भव्यात्माएँ सुपात्र की सेवा में अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को व्यतीत करेंगी, वे इस लोक और परलोक में सुखी बन जाएगी।

ता० १०-१०-५६
बैंगलोर केन्टोमेन्ट

तपोमहिमा



सिद्धाणं बुद्धाणं० ।

卐卐

भाइयो ! कवि भागचन्द्रजी द्वारा निर्मित महावीराष्टक स्तोत्र के दो पद्यों को सुनाया जा चुका है। इस स्तोत्र का तीसरा पद्य इस प्रकार है—

नमन्नाकेन्द्राली–मुकुटमणिभाजालजटिलम् ,
लसत्पादाम्भोजद्वयमिह यदीयं तनुभृताम् ।
भवज्वाला शान्त्यैं प्रभवति जलं वा स्मृतमपि,
महाबीरस्वामी नयनपथगामी भवतु नः ॥३॥

इस श्लोक में बतलाया गया है कि भगवान् महावीर के चरण-कमल युगल, नमन करते हुए देवेन्द्रों के समूह के मुकुटों की कान्तिपुञ्ज से और अधिक देदीप्यमान हो उठते थे। भगवान् के यह चरणकमल तथा भगवान् का स्मरण मात्र भी संसारी जीवों की भवज्वाला को अर्थात् जन्म जरा और मरण से होने

वाले सन्ताप को शान्त करने के लिए जल के समान है। ऐसे भगवान् महावीर स्वामी हम लोगों के दृष्टिगोचर हों।

यहां कवि के कहने का आशय यह है कि भगवान् महावीर के चरणों में सुरेन्द्र असुरेन्द्र और नरेन्द्र आदि सभी नमस्कार करते थे-असीम श्रद्धा के साथ नतमस्तक होते थे। उन इन्द्रों के मस्तक पर रक्खे हुए मुकुटों में चमचमाती हुई मणियां जड़ी होती थीं। वे जब भगवान् के चरणों में झुकते थे तो स्वतः देदीप्यमान भगवान् के चरण उन मणियों की कान्ति के समूह का संयोग होने से अत्यन्त देदीप्यमान हो उठते थे।

यहां दूसरी बात यह बतलाई गई है कि प्रत्येक संसारी जीव जन्म जरा और मरण की ज्वालाओं से झुलस रहा है। संसार में रह कर कोई उस झुलस से बच नहीं सकता। मगर भगवान् का नाम ही उन ज्वालाओं के सन्ताप को निवारण करने वाला है। जैसे सूर्य के ताप से संतप्त मनुष्य किसी सरोवर में अवगाहन करने पर शान्ति अनुभव करता है, उसी प्रकार भगवान् का नामस्मरण समस्त सांसारिक सन्तापों को शमन करने वाला है। अतएव कवि कहता है— हे प्रभो! यदि आप मेरी आंखों के सामने होंगे तो मेरे जीवन में कोई बुराई नहीं आने पाएगी। मैं सब बुराइयों से बच जाऊँगा। अतएव हे नाथ! आप मेरे नेत्रों के सन्मुख हों।

समवायांगसूत्र—

यही बात आपके समक्ष सूत्र के द्वारा रक्खी जाती है। आर्य सुधर्मा स्वामी ने अपने ज्येष्ठ शिष्य आर्य जम्बू स्वामी को

भगवान् महावीर की विशेषताएँ बतलाईं, जिससे भगवान् के वचनों के प्रति विशेष रूप से आस्था उत्पन्न हो, क्योंकि बारह अंगों का, जिनका परिचय कराया जा चुका है, अर्थ के रूप में भगवान् ने ही कथन किया है। अतएव मूल अर्थवक्ता भगवान् ही हैं। भगवान् के मुखारविन्द से अर्थ को अवधारण करके गणधरों ने शब्दरूप में उनकी रचना की। प्रस्तुत समवायांगसूत्र उन्हीं में से चौथा है और इसमें एक से लेकर कोड़ाकोड़ तक समवाय आये हैं। सर्वप्रथम कहा गया है—

एगे आया।

अर्थात्—आत्मा एक है।

प्रश्न हो सकता है कि विश्व में आत्माएँ अनन्तानन्त हैं। फिर एक कहने का कारण है? इसका उत्तर यह है कि आत्माएँ व्यक्ति रूप से भले अनन्त हैं, मगर षट् द्रव्यों में जीव एक ही माना गया है। अतएव जीवत्व सामान्य की अपेक्षा से एक कहना अनुचित नहीं है। चाहे आत्मा मुक्त हो, चाहे संसारी, सब में चेतना गुण समान रूप से विद्यमान है। उनके मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। मुक्त और संसारी आत्मा में जो भेद किया जाता है, वह चेतना की विशुद्धि और अशुद्धि पर निर्भर है। सबका स्वभाव एक-सा है। अतएव सामान्यग्राही संग्रहनय की अपेक्षा आत्मा एक ही है।

इस सूत्र से आत्मा का अभाव मानने वाले नास्तिक वादियों के मत का भी निराकरण किया गया है। जब सर्वज्ञ भगवान् स्वयं आत्मा का अस्तित्व प्ररुपित्त करते हैं तो नास्तिकों

के वचन पर कौन विश्वास कर सकता है ? इसके अतिरिक्त स्वयं वेदन प्रत्यक्ष से तथा अनुमान प्रमाण से भी आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है। आत्मा का अस्तित्व न होता तो चेतना कहां से आती ? चेतना गुण है और गुण बिना गुणी (द्रव्य) के रहता नहीं है। व इस नियम के अनुसार चेतना का आधारभूत कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिये और वही आत्मा है। हम जानते हैं देखते हैं, समझ-बूझ कर काम करते हैं, सोचते-विचारते हैं। यह सब चेतना के अभाव में ही होता तो मेज कुर्सी पाटा आदि भी यह सब क्रियाएँ करने लगते। क्यों कि आत्मा का अस्तित्व न माना जाय तो फिर हम में और इन जड़वस्तुओं में अन्तर ही क्या रहे ?

यदि आत्मा के विषय में विवेचन किया जाय तो कई दिन लग सकते हैं। स्व० गणी उदयचन्दजी म० ने पंजाब में एक महिने तक व्याख्यान दिया था। उन्होंने विशद विवेचन करके बतलाया था कि अमुक मत वाले इस प्रकार का मानते हैं और अमुक मत वाले इस प्रकार उन्होंने जैन मान्यता का भी विवेचन किया था। किन्तु मैं इतना लम्बा-चौड़ा विवेचन आपके सामने नहीं रखना चाहता। संक्षेप में ही इस विषय पर प्रकाश डाल रहा हूँ।

तो सामान्य की अपेक्षा से आत्मा एक ही है और अनात्मा भी एक ही है, जिससे दूसरे शब्दों में जड़ कहते हैं। घट, पट, दुकान, मकान आदि सब निर्जिव पदार्थ जड़ कहलाते हैं। यों तो संसार में जड़ पदार्थ भी अनन्तानन्त हैं, मगर जड़त्व सामान्य की दृष्टि से सब का एक ही में समावेश हो जाता है।

हमारे सामने और बहुत दूर-दूर तक भी, जिसकी किसी तरफ कहीं सीमा नहीं है, यह जो अनन्त विश्वास है, वास्तव में दो ही पदार्थों का विस्तार है। समग्र विश्व में दो ही मूलभूत वस्तु है चेतन और जड़। इन्हीं के विविध प्रकार के संयोग-विभाग से असीम रूप निष्पन्न होते हैं। इन दो के अतिरिक्त तीसरा कोई मौलिक पदार्थ जगत् में नहीं है।

तत्पश्चात् कहा गया है 'एगे दंडे'। दंड का अर्थ है अप्रशस्त व्यापार। व्यापार मन से भी होता है, वचन से भी होता है और काम से भी होता है। अत एव दंड के भी तीन भेद हैं मनो दंड, वचनदंड, और कामदंड। मगर 'दंड' कहने से इन तीनों का समावेश हो जाता है। जिसके कारण आत्मा दंडित होता है, सजा का पात्र बनता है; वह दंड है। इस सामान्य की अपेक्षा से दंड एक ही है।

फिर कहा है 'एगे अदंडे'। अर्थात् अदण्ड एक है। अप्रशस्त व्यापार से निवृत्त होना और प्रशस्त व्यापार में प्रवृत्त होना अदण्ड है। अर्थात् जिस संवर एवं निर्जरा रूप प्रवृत्ति से आत्मा दण्डित होने से बचता है, वह अदण्ड कहलाता है और वह भी सामान्य रूप से एक ही है।

क्रिया एक है। यों तो भेद नय की अपेक्षा से क्रियाएँ पांच और पच्चीस प्रकार की मानी गई हैं, तथा भिन्न २ अपेक्षाओं से और भी भेद हो सकते हैं, तथापि क्रिया क्रिया सब एक है।

क्रिया का अर्थ यहां सावद्य व्यापार-कार्य लिया गया है। इस क्रिया से पाप का बन्ध होता है। साधारणतया क्रिया में

शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की क्रियाओं का समावेश होता है शुभ क्रिया पुण्य बन्ध का और अशुभ क्रिया पाप बन्ध का कारण होती है। मगर पुण्य और पाप दोनों ही मोक्ष के प्रति बन्धक हैं। दोनों का अभाव होने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है। हां, यह नहीं भूल जाना चाहिए कि पुण्य के उदय से ही मनुष्य भव आदि मोक्ष की सामग्री प्राप्त होती है। अतएव सर्व-प्रथम पाप क्रिया का परित्याग करना चाहिये।

भाइयो! यह जीव जो भी क्रिया करता है; उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। शुभ क्रिया करता है तो शुभ फल भोगता है और अशुभ क्रिया करता है तो अशुभ फल भोगता है जैन सिद्धान्त की मान्यता है कि प्रत्येक समय कोई न कोई क्रिया होती रहती है, चाहे व शुभ हो या अशुभ। ऐसा कोई समय नहीं जाता जब कुछ न कुछ क्रिया न हो। शयन करने की अवस्था में भी क्रिया बन्ध नहीं होता। उस समय भी मन स्थिर नहीं रहता। श्वासोच्छ्वास आदि के कारण शरीर में भी हलन चलन आदि होता रहता है। वाचनिक क्रिया का भी सर्वथा अभाव नहीं होता किन्तु एक समय ऐसा भी आता है जब समस्त क्रियाएँ रुद्ध हो जाती हैं और जीव के प्रदेश सुमेरु की तरह अकम्प बन जाते हैं। वह चौदहवें गुण स्थान की अवस्था है और उसके बाद ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

पांच क्रियाओं में पहली क्रिया है कायिकी, अर्थात् काया (शरीर) से होने वाली क्रिया। दूसरी अधिकरणिकी क्रिया है, जिसका अर्थ है तलवार, भाला, छुरा, कलकारखाने आदि पाप के साधनों से लगने वाली क्रिया। पाप के साधन को अधिकरण

और धर्म के साधन को उपकरण कहते हैं। जितने भी पाप के साधन हैं, उनके निमित्त से अधिकरिणी क्रिया लगती है। चूल्हा, चक्की ऊखल, मूसल आदि भी अधिकरण में सम्मिलित हैं। तीसरी पाउसिया या प्राद्वेषिकी क्रिया द्वेषभाव रखने से लगती है। इसके दो भेद हैं—जीवप्राद्वेषिकी और अजीवप्राद्वेषिकी। किसी जीव पर द्वेष रखने से जीवप्राद्वेषिकी और जड़ वस्तु पर द्वेष रखने से अजीवप्राद्वेषिकी क्रिया लगती है। चौथी परितावणिया या पारितापनिकी क्रिया है, जो किसी को परिताप पहुँचाने, कष्ट देने से होती है। इसमें जान से मार डालना सम्मिलित नहीं है, है, सिर्फ दुःख पहुंचाना ही पारितापनिकी क्रिया है। पांचवीं क्रिया प्राणातिपातिकी कहलाती है। किसी जीव को मार डालने से, उसके प्राण हरण कर लेने से होने वाली क्रिया प्राणातिपातिकी (पाणाईवाइया) कहलाती है।

शास्त्रों में पच्चीस क्रियाओं का भी उल्लेख आता है। जैसे फरेब, दगाबाजी या कपट करने से मायावत्तिया (मायाप्रत्ययिकी) क्रिया होती है। किसी वस्तु का सेवन न भी किया जाय, मगर जब तक उसके सेवन का प्रत्याख्यान नहीं किया जाएगा, तब तक अपच्चक्खाण की क्रिया लगती ही रहती है। मिथ्यात्व से भी जो क्रिया लगती है, वह मिथ्यादर्शनप्रत्यया कहलाती है। किसी सजीव या निर्जीव वस्तु को देख कर राग-द्वेष करने से भी क्रिया लगती है। राग-द्वेषपूर्वक किसी का स्पर्श करने से भी क्रिया लगती है। इस प्रकार जो भी पापजनक व्यापार हैं, वह सब क्रिया के अन्तर्गत है।

अक्रिया भी एक है। कहा जा चुका है कि आत्मा जब

चौदहवें गुणस्थान में, अयोगी केवली की स्थिति में पहुँच जाती है, तब क्रिया से रहित हो जाती है। वहां न शुभ क्रिया होती है, न अशुभ क्रिया होती है। क्रिया के अभाव में उस समय कर्म के बन्ध का भी अभाव हो जाता है। चौदहवें गुणस्थान की स्थिति थोड़ी सी है—पांच ह्रस्व स्वर उच्चारण करने जितनी काल की। उसके बाद ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है। तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती जीव भी केवली होते हैं, मगर वहां योगों की विद्यमानता होने से क्रिया होती है, उस यौगिक क्रिया के कारण कर्मबन्ध तो होता है, परन्तु पहले समय में कर्म आते हैं, दूसरे समय में वेदे जाते हैं और तीसरे समय में निर्जीर्ण हो जाते हैं। कारण यह है कि स्थितिबन्ध कषाय से होता है और तेरहवें गुणस्थान में कषाय का अभाव होने से स्थितिबन्ध नहीं होता यही बात रसबन्ध के विषय में समझना चाहिए। वहां योगों की मौजूदगी के कारण ऐर्यापथिकी क्रिया मात्र होती है और उससे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध ही होते हैं।

यह आत्मा अठारह प्रकार के पापों से अशुभ कर्मों को और नौ प्रकार के पुण्य से शुभ कर्मों को बांधती है। इस प्रकार पुण्य भी कर्मबन्धरूप है। पाप का फल लोहे की बेड़ी के समान और पुण्य का फल सोने की बेड़ी के समान होता है। बेड़ी चाहे लोहे की हो या सोने की, स्वाधीनता में बाधक ही होती है। इसी प्रकार चाहे शुभकर्म हो, चाहे अशुभ कर्म, वह मोक्ष में बाधक ही है। पुण्य और पाप दोनों का क्षय होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है।

पुण्य-पाप रूप कर्मों के अधीन होकर जीव सुख-दुख का

अनुभव करता है। महिलाएँ जब नाक कान में छेद करवाती है तो दुःख अनुभव करती हैं, मगर जब उनमें हीरे की लौंग पहनती हैं तो सुखानुभव करती हैं। तो अठारह प्रकार के पाप करने से अशुभ और नौ प्रकार के पुण्य करने से शुभ क्रिया होती है।

आपने सुना होगा कि नौ तत्वों में से अर्थात् जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बंध और मोक्ष में से तीन तत्व जानने योग्य, तीन ग्रहण करने योग्य और तीन त्यागने योग्य हैं। जीव, अजीव और बन्ध यह तीन जानने योग्य हैं, पुण्य, पाप और आस्रव छोड़ने योग्य हैं। और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ग्रहण करने के योग्य हैं। इस प्रकार नौ तत्व हैं।

यहां पुण्य भी छोड़ने योग्य माना गया है, परन्तु किसी हद तक वह भी ग्रहण करने योग्य है। जैसे अग्नि छोड़ने योग्य है किन्तु जब तक रोटी बनाई जा रही है. तब तक तो उसकी आवश्यकता है ही। इसी प्रकार पुण्य अमुक हद तक स्वीकार करने योग्य और अमुक हद के बाद छोड़ने योग्य है। पुण्य के प्रभाव से मनुष्यजन्म मिलता है, सब प्रकार के अनुकूल साधन मिलते हैं और साधुओं के प्रवचन सुनने को मिलते हैं। इन सब निमित्तों से ही जीव अपनी विशुद्धि कर सकता है। तो पुण्य की तब तक आवश्यकता है जब तक वह किनारे न पहुंच जाय।

एक मनुष्य नदी पार करके दूसरे किनारे पर स्थित किसी नगर में पहुंचना चाहता है। वह नौका पर आरूढ़ हुए बिना नदी पार नहीं कर सकता। ऐसी हालत में उसे नौका पर सवार

होना आवश्यक है। किन्तु किनारे पर पहुँच कर, नगर में जाने के लिए उसे नौका का भी त्याग करना अनिवार्य होता है। यदि पहले ही वह नौका पर आरूढ़ न हो या आरूढ़ होकर उतरना न चाहे तो अभीष्ट नगर में नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार पहले पुण्य का अवलम्बन न लिया जाय और अन्त में पुण्य का परित्याग न किया जाय तो मोक्ष रूपी नगर भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। अगर कोई मन चला दूसरे किनारे पर पहुँचने से पूर्व ही, बीच में नौका को छोड़ देगा तो उसका मँझधार में डूब जाना निश्चित है। आवश्यक है कि हम हेय-उपादेय के स्वरूप को भली-भांति समझें और यह भी जान लें कि किस स्थिति में क्या हेय है और किस अवस्था में क्या उपादेय है? इस प्रकार का विवेक प्राप्त होने पर ही साधक की साधना समीचीन रूप से अग्रसर हो सकती है।

आस्रव और संवर को जानो और जब जान लोगे तो आस्रव को छोड़ देने से संवर हो जाएगा। एक दोष को छोड़ोगे तो एक गुण स्वतः प्राप्त हो जाएगा। अगर बीस प्रकार के आस्रव का त्याग करोगे तो बीस प्रकार के संवर उसके पीछे ही चले आएँगे। तो एक ही क्रिया है जिसके कारण शुभाशुभ कर्म आते हैं और एक ही अक्रिया है जिसकी बदौलत आते हुए कर्म रुक जाते हैं। इस तथ्य को जानकर भव्य जीवों को ऐसा पुरुपार्थ करना चाहिए कि जिससे आत्मा सदा के लिए अक्रिय हो जाए।

फिर बतलाया गया है—'एगे लोए' अर्थात् लोक एक ही है। यों तो भेदनय की अपेक्षा से तीन लोक प्रसिद्ध हैं और असंख्य प्रदेशात्मक होने से लोक को असंख्यात भेद वाला भी

कहा जा सकता है, तथापि लोक का लक्षण सर्वत्र एक ही घटित होने से यहां एक ही लोक कहा गया है। ऊर्ध्व, अधः और मध्य इन तीन भागों में विभक्त, असंख्यातप्रदेशी इस लोक का प्रमाण चौदह राजू का है। राजू का प्रमाण क्या है, इस विषय में कवि किशनलालजी म० ने कहा है—

तीन कोड़ इक्यासी लाख बारह सहस्र,
नव सौ सित्तर मण गोलो एक मानिए।
आयो ऊर्ध्व लोक से वो मास षट दिन षट,
पहर षट घड़ी षट पल षट जानिए।
ताको नाम राजू एक ऐसे अधो सात राजू,
सात राजू ऊर्ध्व लोक ज्ञान से प्रमाणिए।
तह्मेव सत्य हु निशंक है किसनलाल,
ज्ञानी देव भाख्यो तामें संशय न आनिए॥

इस पद्य में बतलाया गया है कि राजू किसे कहते हैं? उसका परिमाण क्या है? तीन करोड़, इक्यासी लाख, बारह हजार, नौ सौ, सत्तर मन भार वाला एक गोला हो और कोई देव उसे ऊपर से छोड़े। वह गोला छह महीने, छह दिन-रात, छह प्रहर, छह घड़ी और छह पल में जितनी दूर तक पहुंचे, उतनी दूरी को—आकाश की उतनी लम्बाई को, एक राजू समझना चाहिये। ऐसा चौदह राजू ऊँचा लोक, ऊर्ध्व, अधः और मध्यलोक के नाम से तीन खण्डों में विभक्त है। अधोलोक सात राजू है, ऊर्ध्वलोक सात राजू से कुछ कम है और इन दोनों के बीच में अठारह सौ योजन का मध्यलोक है। इस रत्नप्रभा पृथ्वी से नौ

सौ योजन ऊपर तक और नौ सौ योजन नीचे तक मध्यलोक की गणना की जाती है।

इतना लम्बा है यह लोक! मगर इसकी चौड़ाई सब जगह समान नहीं है। सातवें नरक में लोक सात राजू चौड़ा है, छठे नरक में छह राजू, पांचवें नरक में पांच राजू, चौथे में चार, तीसरे में तीन, दूसरे में दो और पहले नरक में एक राजू चौड़ा है। मध्यलोक एक राजू और ज्योतिष्कलोक भी एक राजू चौड़ा है। तत्पश्चात् लोक की चौड़ाई बढ़ती गई है और जहां प्रथम-द्वितीय देवलोक हैं, वहां दो राजू की चौड़ाई हो गई है। तीसरे-चौथे देवलोक की जगह चार राजू की चौड़ाई है। पांचवें देवलोक में पांच राजू की चौड़ाई है। यहां से फिर चौड़ाई कम होने लगती है। छठे देवलोक में चार राजू की, सातवें-आठवें देवलोक में तीन राजू की, नौवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें देवलोक में दो राजू की चौड़ाई है। नौ ग्रैवेयक, पांच अनुत्तर विमान तथा सिद्धशिला की जगह लोक की चौड़ाई एक राजू प्रमाण है।

लोक की आकृति समझाने के लिए एक उदाहरण दिया गया है। कल्पना कीजिए—एक भोपा लँहगा पहन लेता है और दोनों हाथ कमर पर रख कर पैर फैला कर नाचता है। तो उस समय भोपा की जैसी आकृति दिखाई देती है, वैसी ही आकृति लोक की है।

यों आकाश एक अखण्ड द्रव्य है। अवगाहना उसका लक्षण है। मगर आकाश के जिस भाग में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय की सत्ता है, वह

भाग लोकाकाश कहलाता है और जिस भाग में आकाश के सिवाय अन्य कोई भी द्रव्य नहीं है, कोरा आकाश ही आकाश है, वह भाग अलोकाकाश कहलाता है। लोकाकाश के इर्दगिर्द और ऊपर-नीचे सभी ओर अनन्त अलोकाकाश फैला हुआ है। वहां धर्मास्तिकाय आदि दूसरा कोई भी द्रव्य नहीं है। वह अलोक भी एक ही है। अतएव कहा गया है-'एगे अलोए।' अर्थात् अलोक एक है।

तत्पश्चात् कहा है-'एगे धम्मे।' धर्मास्तिकाय एक है। जिसे पच्चीस बोल का थोकड़ा याद है उसे मालूम होगा कि उसके बीसवें बोल में षट् द्रव्य के तीस भेद माने हैं, उनमें धर्मास्तिकाय भी एक माना है। धर्मास्तिकाय वह द्रव्य है जो जीव और पुद्गलों की गति में निमित्त कारण (सहायक) बनता है। जैसे पानी मछली की गति में सहायक होता है, उसी प्रकार जीव-पुद्गलों की गति में धर्मद्रव्य सहायक होता है। जैसा कि अभी कहा जा चुका है, लोक बाहर धर्मास्तिकाय का अस्तित्व नहीं है। यही कारण है कि मुक्तजीव ऊर्ध्वगति करते हैं, पर लोक के अग्रभाग में पहुँचने पर उनकी गति रुक जाती है, क्योंकि आगे धर्मास्तिकाय नहीं है।

यद्यपि धर्मास्तिकाय के स्कंध, देश और प्रदेश की कल्पना से तीन भेद किये जाते हैं, तथापि द्रव्य से वह एक है। क्षेत्र से समस्त लोक में व्याप्त है। काल की अपेक्षा से सदा काल रहता है। उसका कभी नाश नहीं होता अनादि अनन्त द्रव्य है। वह पहले भी था, अब भी है और भविष्य में सदा रहेगा। गुण की अपेक्षा वह गतिसहायक है।

फिर कहा गया है-'एगे अधम्मे।' अधर्म द्रव्य एक है। द्रव्य की अपेक्षा वह एक है, क्षेत्र से लोकव्यापी है, काल से अनादिनिधन है, भाव से वर्ण गंध रस और स्पर्श से रहित है और गुण से स्थिति में सहायक है। जैसे पथिक के ठहरने में वृक्ष की छाया सहायक होती है, उसी प्रकार गति करते हुए जीवों और पुद्गलों की स्थिति में अधर्मास्तिकाय सहायक होता है।

धर्म और अधर्म द्रव्यों के विषय में यह भी जान लेना आवश्यक है कि धर्मद्रव्य किसी को प्रेरणा करते चलाता नहीं है और न अधर्मद्रव्य चलते हुए को जबर्दस्ती ठहराता है। वरन् जो जीव और पुद्गल स्वय चलते हैं, उनके चलने में धर्मास्तिकाय सहायक बन जाता है। इसी प्रकार स्वयं स्थित होने वालों की स्थिति में अधर्मास्तिकाय सहायक बन जाता है।

साधारणतया धर्म का अर्थ वस्तुस्वभाव भी होता है। जैसे वस्त्र का धर्म (स्वभाव) सर्दी-गर्मी से रक्षा करना और लाज रखना है और अग्नि का धर्म जलाना है। पानी का धर्म प्यास बुझाना है। यह स्वभाव रूप धर्म प्रत्येक वस्तु में रहता है। वस्त्र का धर्म वस्त्र में और शक्कर का धर्म शक्कर में रहता है। जड़ का धर्म जड़ में है और चेतन का धर्म चेतन में है। दुनियां कहती है-'चमत्कार को नमस्कार।' वास्तव में यह चमत्कार उसका धर्म ही है। अग्नि में जलाने का धर्म है और वह धर्म जब उसमें नहीं रह जाता तो वह नष्ट हो जाती है, राख बन जाती है। परन्तु यहां जिस धर्म और अधर्म द्रव्य का निरूपण किया गया है, उसका अर्थ अलग है। यह दोनों स्वयं द्रव्य हैं, किसी वस्तु के स्वभाव या गुण नहीं हैं।

आगे बतलाया गया है–'एगे पुण्णे।' अर्थात् पुण्य भी एक है। यह शुभ कर्म रूप है। यों तो पुण्य के नौ भेद माने गये हैं। यथा–अन्नपुण्य-किसी भूखे को भोजन देना पुण्य है, पानपुण्य-प्यासे को पानी पिला देना पुण्य है, लयनपुण्य-निराश्रय को मकान दे देना पुण्य है, शयनपुण्य–पाट-पाटला आदि दे देना पुण्य है, वस्त्रपुण्य–कोई नंगा-उघाड़ा सर्दी से ठिठुर रहा हो और उसे वस्त्र दे देना पुण्य है, मन में शुभ भावना रखना पुण्य है। अन्य पुण्यों में तो कुछ देना भी पड़ता है, परन्तु मन के द्वारा पुण्य कमाने में कुछ भी खरचना नहीं पड़ता। हां, मन में सद्भावना रहनी चाहिए–अप्रशस्त भाव नहीं होना चाहिए। दान लेने वाला लेता है और देने वाला देता है, किन्तु देखने वाला यदि उस दान की अनुमोदना मन ही मन करे तो उसे भी मन से पुण्य की प्राप्ति हो जाती है। वचनपुण्य–वचन के द्वारा भी पुण्य प्राप्त किया जा सकता है। लेने वाला लेता है, देने वाला देता है, किन्तु तुम यदि नहीं भी दे रहे हो, सिर्फ सान्त्वनाप्रद वचन कह देते हो तो उससे भी दूसरे को शान्ति हो जाती है और तुम वचन के द्वारा पुण्य कमा लेते हो। प्रकार किसी घबराए हुए को वचन से आश्वासन दे देना पुण्य है।

हां, यदि विचार करके सुखद और निर्दोष वचन बोलोगे पुण्य उपार्जन कर सकोगे। इसके विपरीत अगर बिन विचारे, विवेकहीन होकर वचनों का प्रयोग करोगे तो पाप हो जाएगा। अतएव जब बोलो तो प्रिय और सत्य वचन ही बोलो। यद्यपि तुमने काने को काना और नपुंसक को नपुंसक कहा और यह वचन यथार्थ है, मगर वह भी सत्य की कोटि में नहीं आता,

क्योंकि ऐसा वचन प्रिय न होने के कारण सुनने वालों को दुःख उपजाता है। अतएव कहा गया है कि सत्य भी ऐसा बोलना चाहिए जो प्रिय भी हो। अतएव सत्य बोलने में भी विवेक की आवश्यकता है। कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्,
न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।

अर्थात् सत्य भी हो और प्रिय भी हो, सत्य होने पर भी जो अप्रिय वचन है, उसका प्रयोग करना उचित नहीं है।

इस प्रकार जो विवेकशील पुरुष अपनी वाणी पर नियंत्रण रखता है, वह वचन के द्वारा भी पुण्य उपार्जन कर लेता है। और विवेकहीन जन वाणी के द्वारा ही पाप का बंध करता है। कहा है-

वचन वचन का आंतरा, वचन वचन का फेर।
एक वचन है औषधी, एक वचन है जहर॥

भाई! वचन-वचन में भी बड़ा अन्तर पड़ता है। एक वचन ऐसा होता है कि उसके प्रयोग से प्रेम के अमृत की धारा बहने लगती है और एक वचन ऐसा भी होता है जो जाति, समाज और देश में द्वेष का दावानल सुलगा देता है। किसी को जीमने के लिए बुलाया और जब वह जीमने के लिए बैठा, तब कोई बात ऐसी कह दी जो उसके हृदय में चुभ जाय तो वह थाल को ठुकरा कर चला जाता है। अतएव कहा गया है कि यदि बोलने का विवेक नहीं होगा तो पुण्य की जगह पाप हो जाएगा। यह जीभ खाकर भी बिगाड़ती है और बोल कर भी बिगाड़ती

है। तात्पर्य यह है कि पुण्य का मार्ग बहुत विशाल है। विवेकी मनुष्य वचन के द्वारा भी पुण्य का उपार्जन कर सकता है।

काया को भी पुण्यार्जन का साधन बनाया जा सकता है। कोई गरीब है, अनाथ है या दुखी है और उसे आपकी सेवा की आवश्यकता है। आपने उसकी सेवा कर दी तो वह सेवा भी पुण्य है। परन्तु यह देह नमती कहां है! साढ़े तीन मन का शरीर कहां नमता है। परन्तु पुण्य तो करने से होगा। यदि सेवा करोगे तो भी काया से पुण्य हो जाएगा।

इसके बाद आता है नमस्कारपुण्य। अपने से बड़ों को, गुरुजनों को नमस्कार करने से भी पुण्य होता है।

इस प्रकार भेदविवक्षा से पुण्य के नौ भेद होने पर भी सामान्य रूप से पुण्य एक ही प्रकार का है। स्व० जैनदिवाकर चौथमलजी म० ने राणा फतहसिंहजी को पुण्य का उपदेश देते हुए कहा था—देखो राणाजी! आप नौ प्रकार के पुण्यों में से, पूर्वजन्म में कोई न कोई पुण्य कमा कर आए हैं। उसी के फलस्वरूप यहां आपको सब प्रकार की सुखद सामग्री मिली है. अगर यहां उस पुण्य से पुण्य को बढ़ा लोगे तो पुण्य और बढ़ जाएगा। यदि पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त साधनों का दुरुपयोग किया तो भविष्य में ऐसे साधन मिलना कठिन हो जाएगा। यही बात मैं आपके सामने दोहराता हूं। आपको भी यह तथ्य सदा ध्यान में रखना चाहिए। और सिर्फ वर्त्तमान पर दृष्टि रख कर भविष्य को भूल नहीं जाना चाहिए।

इस प्रकार श्रीसुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी को एक समवाय का वर्णन सुना रहे हैं। आगे क्या अधिकार चलता है, यह आगे सुनने से विदित होगा।

अमरसेन-वीरसेनचरित—

किस प्रकार अमरसेन और वीरसेन को जिनदास सेठ के घर आश्रय मिला, यह बात बतलाई जा चुकी है। यह भी कहा जा चुका है कि हस्तिनापुर में जब मुनिराजों का आगमन हुआ तो जिनदास सेठ उन दोनों लड़कों को साथ लेकर मुनिराज के दर्शनार्थ गया। मुनिराज के निकट पहुँचकर पहले सेठ ने विधि-पूर्वक वन्दन-नमस्कार किया और फिर लड़कों ने सेठ का अनुकरण किया, क्योंकि वे लड़के वन्दनाविधि से अनभिज्ञ थे। वन्दन-नमस्कार के पश्चात् वे सब वहीं बैठ गए, तब मुनिराज ने जिनदास सेठ को, दोनों बालकों को और नगर से आई हुई जनता को धर्मोपदेश दिया। उपदेश में मुनिराज ने विशद रूप से बतलाया कि तपस्या से किस प्रकार शुभाशुभ कर्मों को नष्ट किया जा सकता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में तप के भेद-प्रभेद आदि बतलाते हुए कहा गया है—

जहा महातलायस्स, संनिरुद्धे जलागमे।
उस्सिचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥
एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे।
भवकोडिसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥

—उत्तरा० अ०, ३०, गा० ५-६

तप का महत्त्व यहां दृष्टान्त देकर बतलाया गया है। कल्पना कीजिए–एक बड़ा तालाब है। वह जल से लबालब भरा है। उसमें पानी आने के पांच रास्ते हैं। पांच नालों से उसमें पानी आता रहता है। अगर उस तलाब को सुखाना है तो सर्वप्रथम उसमें आने वाले उन नालों को, स्रोतों को बंद करना पड़ेगा। जब वह बंद हो जाएँगे तो नया पानी आना बंद हो जाएगा। फिर पहले से भरे हुए पानी को पम्प के द्वारा, चरस के द्वारा अथवा किसी अन्य उपाय से निकाल दिया जाएगा। कुछ पानी धूप से भी सूख जाएगा। तो इस प्रकार की क्रिया करने से उस तालाब का पानी सूख सकता है।

इसी प्रकार इस आत्मा रूपी तालाब में मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय और योग, इन पांच आस्र द्वारों से कर्म रूपी पानी प्रतिक्षण आ रहा है। यदि आत्मा को पवित्र-निष्कर्म बनाना है समस्त कर्मों का क्षय करना है तो सर्वप्रथम उन पांच आस्रवद्वारों को रोकना होगा। आस्रवद्वारों को रोकना ही संवर कहलाता है। सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व आस्रव का, अहिंसा आदि पांच महाव्रतों से अविरति का, अप्रमाद से प्रमाद का वीतरागभाव से कषायों का और अयोगित्व से योगों का निरोध होता है। इनमें से जो-जो संवर जीव को प्राप्त होते जाते हैं, उन्हीं के अनुसार आस्रवद्वारा बंद होते चले जाते हैं सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर मिथ्यात्व के द्वारा आने वाले कर्मों का निरोध हो जाता है। संयम को अंगीकार कर लेने पर अविरतिजनित आस्रव बंद हो जाता है। इसी प्रकार आगे भी आस्रवनिरोध का क्रम समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि ज्यों-ज्यों संवर की वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों आस्रव रुकता जाता है और आत्मा में कर्मों का संचय कम होता जाता

है। मगर पहले जो कर्म बँध चुके हैं, उनका तपस्या से विनाश होता है। इस प्रकार नये कर्म न आने से और पूर्वबद्ध कर्मों को निर्जरा होने से ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि आत्मा पूर्ण-रूप से कर्मरहित बन जाता है।

महापुरुषों का कथन है कि—हे मानव! तुझे यह शरीर पापों को नष्ट करने के लिए मिला है पापों को नष्ट करने के लिए तप का अनिवार्य आवश्यकता है। तपश्चरण से ही कर्म का विनाश हो सकता है। जैसे जंगल में सिंह की गर्जना सुन कर मृग भाग जाते हैं, उसी प्रकार तप के द्वारा पूर्व बद्ध कर्म क्षीण हो जाते हैं जिस प्रकार करोड़ों मण बारूद के ढ़ेर को समाप्त करने के लिए अग्नि की एक चिनगारी ही पर्याप्त है और कपड़ों में मैल को धोने के लिये साबुन समर्थ होता है, उसी प्रकार पूर्व संचित कर्मों को तपश्चरण नष्ट कर देता है। कहा भी है—

तर्जः—मझाड़

मानव शुद्ध तपस्या कर इण न्याय, थारा कर्म पुन्झ झड़ जाय ॥टे॥

सिंह तरण सुन शब्द तुरत ही, मृग भागे वन मांय।
सूर्य प्रकाश के आगल जैसे, अन्धकार विरलाय॥ मानव० १॥

पींजण की फटकार लग्यां, जिम जाय रुई नो पेल।
आग के आगे बारूद न ठेरे, साबुन के संग मेल॥ मानव० ॥

सहस वर्ष में नर्क जीवों के, कर्म क्षय नहीं थाय।
इतना कर्म मुनीवरजी तोड़े, चउथ भक्त के माय॥ मानव० ३॥

जीव मखन जिम काया कटोरी, तप अग्नि की आंच।
कर्म मेल की जलत खटाई समझू मानो सांच॥ मानव० ४॥

मेरे गुरु नंदलाल मुनीश्वर, कहेछ बारम्वार।
भव भव में सुख होय निरंतर, निज आतम गुणधार ॥मानव०५॥

भगवती सूत्र के सोलहवें शतक के चतुर्थ उद्देशक में भगवान् ने बतलाया है कि साधु महापुरुषों के सामने भोजन आ जाय और थोड़ी देर तक भी वे उसे ग्रहण न करें तो उतनी सी देर की तपस्या के प्रभाव से इतने कर्मों की निर्जरा होती है जिनके फलस्वरूप सौ वर्षों तक नरक के दुःख भोगने पड़ते हैं। एक उपवास से एक हजार वर्ष के पाप टूट जाते हैं। वेला करने से एक लाख वर्ष तक नरक में रह कर भोगने जितने कर्मों की निर्जरा हो जाती है। इसी प्रकार तेला करने से एक करोड़ वर्षों तक भोगने योग्य और चौला करने से क्रौड़ा-क्रोड़ी वर्षों तक भोगने योग्य नरक के दुख छूट जाते हैं।

भगवान् से प्रश्न किया गया-प्रभो ! पाप कर्म तप के द्वारा कैसे नष्ट हो जाते हैं ?

भगवान् ने उत्तर दिया-जैसे एक बुड्ढा आदमी है, जिसका शरीर जर्जरित हो गया है, वह एक मोटा कुलहाड़ा लेकर लकड़ियां काटने के लिए जंगल में गया लकड़ियां गीली हैं। वह वृद्ध पुरुष लकड़ी पर कांपते हाथों से, हांफ-हांफ कर कुल्हाड़ा चलाता है। फिर भी वह लकड़ी को काटता ही है। इसके विपरीत, चौथे आरे का जन्मा हुआ बत्तीस वर्ष का नौ जवान हो उसके हाथों में तेज धार वाला कुल्हाड़ा हो और वह अपनी पूरी ताकत से प्रहार कर रहा हो और लकड़ी भी सुकी हो तो उसे काटने में कितनी देरी लगेगी ?

तो जिस प्रकार उपर्युक्त वृद्ध और युवा, दोनों ही लकड़ी

काटते हैं, मगर उनकी रफ्तार में बहुत अन्तर होता है, उसी प्रकार कर्मों की निर्जरा तो सभी जीव करते हैं और समय-समय निर्जरा होती ही रहती है, परन्तु उसकी रफ्तार में महान् अन्तर होता है। तपश्चरण के प्रभाव से कर्म ही एक साथ और अधिक परिमाण में नष्ट होते हैं।

जब एक उपवास से भी हजार वर्ष तक भोगने योग्य कर्मों का क्षय हो जाता है तो इसी से तप की महिमा समझी जा सकती है अतएव ज्ञानी जन कहते हैं कि यह आत्मा अनन्त काल से पाप करती आ रही है और इसने बहुत पापों का संचय किया है, तथापि तपस्या के द्वारा उन्हें विनष्ट किया जा सकता है। अतएव तपस्या करने में हिचकिचाहट मत करो। अपने सामर्थ्य को गोपन किये बिना तपस्या करो। ऐसा करने में ही तुम्हारा हित है। यही तुम्हारे लिये बुद्धिमत्ता पूर्ण कदम है। ऐसा करने से ही तुम अपने मानव जीवन का वास्तविक फल प्राप्त कर सकोगे। तपश्या तुम्हारे उन कर्मों को नष्ट कर देगी जो भविष्यत् में तुम्हारा घोर अमंगल करने वाले हैं। और भीषण दुःखों की आग में झौंकने वाले हैं। तुम कर्मों के कटुक फलों से अपनी रक्षा कर सकोगे।

शास्त्रकार एक और दृष्टान्त देकर इस विषय की पुष्टि करते हैं। कहते हैं—यह जीव है मक्खन जैसा और काया है बरतन जैसी। जैसे मक्खन से घी बनाने के लिए मक्खन को बरतन में रखकर चूल्हे पर चढ़ाना पड़ता है और आग जलाकर गर्म करना पड़ता है। ऐसा करने से मक्खन में मिली हुई छाछ अग्नि के द्वारा नष्ट हो जाती है और शुद्ध घृत तैयार हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा रूपी मक्खन शरीर रूपी बरतन में रहता है। इसे

शुद्ध बनाने के लिए तप रूपी अग्नि पर शरीर रूप बरतन को रखना होगा। ऐसा करने से कर्म रूपी छाछ या मैल जलकर भस्म हो जाएगा और फिर आत्मा घृत के समान शुद्ध हो जाएगी।

चूल्हे पर पात्र चढ़ाने से वह काला पड़ जाता है, इसी प्रकार तपस्या करने से शरीर दुर्बल अवश्य होगा, परन्तु आत्मा शुद्ध हो जाएगी और निश्चय ही उसका तेज बढ़ जाएगा। अतएव गुरु महाराज भव्यात्माओं को बार-बार यही हितोपदेश देते हैं कि—हे भव्यजीवो ! इस बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुए मानवजीवन को तपश्चर्या द्वारा सफल बनाओ। देखो, इस जीवन की प्राप्ति के लिए देवता भी तरसते हैं और तुम्हें अकस्मात् यह मिल गया है। भविष्य में पुनः इसकी प्राप्ति होगी या नहीं और होगी तो कितने काल के पश्चात् होगी, यह किसी को नहीं मालूम है। बड़े पुण्य के योग से नारायण बनने-भगवान् बनने का अवसर मिला है। इस अवसर का अगर लाभ उठाना चाहते हो तो तपस्या करो और समस्त कर्मों को नष्ट करने के लिए पुरुषार्थ करो। इस शरीर से तुम्हारे कर्मों का नाश हो जाएगा। जिनके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं, उन्हें अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है। यदि कुछ कर्म रह गये तो २६ देवलोकों में से किसी देवलोक में आत्मा उत्पन्न होगी और वहां दिव्य सुख प्राप्त हो जाएँगे।

मुनिराज ने पुनः फर्माया—ऐ मानवो ! अनादि काल से यह आत्मा पाप का आचरण करती आ रही है। अब तुम्हें मनुष्यभव, आर्यकुल, विवेक और जिनवाणी के श्रवण का सुयोग आदि सभी अनुकूल संयोग मिल गये हैं। अगर अब भी इन्हें नहीं हटाओगे तो फिर कब हटाओगे ? क्या नारक, तिर्यंच या

देवभव में कर्मों को नष्ट करोगे ? नहीं इन भवों में कर्मों का विनाश नहीं हो सकता। समस्त कर्मों के क्षय के लिए तो एक मात्र मानवभव ही उपयुक्त है।

तो तप का माहात्म्य असीम है। वाणी उसका वर्णन नहीं कर सकती। मन उसका चिन्तन नहीं कर सकता। तर्क तो उसे समझ ही नहीं सकता। तप से लौकिक सिद्धियां भी प्राप्त होती हैं और राज्य आदि वैभव भी प्राप्त हो जाता है।

आज भारत के शासन की बागडोर जिनके हाथों में है, उन्होंने देश की स्वाधीनता के लिए घोर कष्ट सहन किये हैं। उन्होंने पुलिस के हाथों मार खाई है, कारागार के कष्ट सहन किये हैं, अपने हाथ से जेल में चक्की पीसी है और सीमेंट मिली रोटियां खाई हैं। तात्पर्य यह है कि देश की आजादी के लिए उन देशभक्तों ने नाना प्रकार के दुःख उठाए थे। उसका परिणाम यह हुआ कि देश के स्वाधीन होते ही, उनकी सेवाओं से प्रभावित होकर, जनता ने उन्हें शासन के संचालन के लिए निर्वाचित करके लोकसभा और धारासभाओं में भेजा। इस प्रकार उन्हें त्याग के कारण ही उच्च पद प्राप्त हुआ है।

एक समय पं० जवाहरलालजी नेहरू को, जब वह नासिक-जेल में थे, सीमेंटमिश्रित आटे की रोटियां दी गई थीं। जब नेहरूजी जैसे विश्वविख्यात नेता के साथ ऐसा व्यवहार किया जा सकता है तो सामान्य जनसेवकों के साथ किये जाने वाले दुर्व्यवहार की सहज ही कल्पना की जा सकती है। नेहरूजी ने देश की आजादी के लिए महान् त्याग किया है और देश के लिए

अपना सब कुछ कुर्बान कर दिया है। उसका फल उन्हें यह मिल रहा है कि वे कोटि-कोटि जनता के हृदय-वल्लभ बन सके हैं और आज सारा संसार उन्हें आदर एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। अतएव यह कहना अत्युक्ति नहीं कि तप के बिना राज्य भी प्राप्त नहीं हो सकता।

मैं आज आपके सामने ऊँचे आसन पर बैठा हूं। तो घर-बार त्याग कर ही बैठ सका हूं। सब लोगों को आगे आने की और ऊँचा पद पाने की इच्छा रहती है, मगर इसके लिए त्याग की आवश्यकता है। बिना त्याग किये कोई आगे नहीं आ सकता, उच्च पद नहीं प्राप्त कर सकता और जनता की श्रद्धा भक्ति का पात्र नहीं बन सकता।

तपस्या के बिना न तो लौकिक साम्राज्य मिलता है और न मोक्ष ही प्राप्त होता है। साधारण प्राणियों की तो बात ही क्या चक्रवर्त्ती सम्राटों ने जब छह खण्ड के सर्वोत्कृष्ट साम्राज्य का परित्याग किया और तपोमय जीवन अंगीकार किया, तभी वह मोक्ष के अधिकारी बन सके। अगर वे त्याग न करते तो उन्हें भी कुछ मिलने वाला नहीं था।

तपस्या के महत्त्व को समझने के साथ एक महत्त्व की बात ध्यान देने योग्य है। जो लोग आठ आठ दिनों की और महीनों-महीनों की तपस्या करते हैं। उनके कितने कर्म नष्ट हो जाने चाहिए ? मगर तपस्या के साथ क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय को भी छोड़ना चाहिए। कषाय त्यागने पर ही तपस्या का विशिष्ट फल और महत्त्व होता है। तपस्वी का रूप ही

क्षमा कहा गया है। जो तपस्वी तपस्या करके क्रोध करता हैं, उसे तपस्या का सारभूत फल प्राप्त नहीं होता। अतएव तपस्या अवश्य करो, पर क्षमा के साथ करो, क्रोध का उद्रेक मत होने दो। इस प्रकार किया हुआ तप ही कर्मों को काटने वाला है।

हां, तो मुनिराज ने तप के संबंध में उपदेश दिया और जब वह समाप्त हो गया तो श्रोताजन नमस्कार करके अपने २ घर चले गए। जिनदास सेठ ने यह जानकर कि इन बालकों की अभी यहां ठहरने की इच्छा है, उन्हें वहीं छोड़कर, घर की ओर प्रस्थान किया।

अमरसेन और वीरसेन मुनिराज की सेवा में बैठे रहे। दोनों मुनिराज के उपदेश का मनन करते रहे। उन्होंने आपस में कहा—मुनिराज का उपदेश आत्मा के लिए कितना कल्याणकारी है। हम लोगों को इतना सुन्दर उपदेश पहले कभी सुनने को नहीं मिला। जान पड़ता है, हम लोगों ने पूर्व जन्म में तपस्या नहीं की, इसी कारण इस जन्म में इतने दुःख भुगतने पड़ रहे हैं, देखो, जैसे अपने माता-पिता चले गए, उसी प्रकार एक दिन हम लोग भी चल बसेंगे। इस जीवन का क्या भरोसा हैं। अभी है और अभी नहीं है! कौन कह सकता है कि यह जिंदगी कल तक रहेगी भी अथवा नहीं?

एक कवि ने इस जीवन के सम्बन्ध में कितनी सुन्दरता के साथ विवेचन किया है—

जीवन जरा सा दुःख जीवन जरा सा,
तामें डर है खरा सा काल सिर पै खरा सा है।

को हु विरला सा जो पै जीवे दो पचासा,
अन्त वन ही में वासा एह बात का खुलासा है।
सन्ध्या का सा भान करिवर का सा कान,
चल दल का सा पान चपला का सा उजासा है।
एतासा रहा सा तापै, किशन अनन्ती आशा,
पानी में पतासा जैसा तन का तमासा है॥

भाईयों ! यह जीवन बहुत थोड़े समय के लिए प्राप्त हुआ है। आज के जमाने में तो अधिक से अधिक सौ वर्ष की जिंदगी मानी गई है। उसमें भी मौत सदा मस्तक पर खड़ी रहती है। विरला ही कोई मिलेगा जो सौ वर्ष तक जीता रहे, अन्त में सब को श्मशान की ही शरण लेनी पड़ती है। यह जीवन संध्याकालीन सूर्य के समान अस्थायी है, हाथी के कान के समान चंचल है, पेड़ के पके पत्ते के समान विनश्वर है और बिजली की आभा के समान क्षणभंगुर है। तिस पर आश्चर्य की बात तो यह है कि मनुष्य अनन्त आशाओं का शिकार बना रहता है। उसकी तृष्णा का कभी अन्त ही नहीं आता। एक तृष्णा कदाचित पूर्ण हो जाय तो उसके स्थान पर दस नयी तृष्णाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

पेड़ में अंकुर फुटता है तो हरा होता है, बाद में वह लाल हो जाता है। फिर हरा और पिला पड़ जाता है। आखिर एक दिन आता है कि हवा का एक साधारण-सा झौंका भी उसे वृक्ष से अलग कर देता है। इसी प्रकार एक दिन शिशु का प्रसव होता है, तब घर में खुशी की लहर दौड़ जाती है। उस समय

बालक का शरीर अत्यन्त कोमल होता है। प्रत्येक दर्शक को बड़ा ही प्यारा लगता है। फिर क्रमशः उम्र बढ़ जाती है और बच्चा जवान हो जाता है, जवानी पाकर वह आसमान से बातें करने लगता है। मगर शीघ्र ही वह समय भी आ जाता है कि शरीर शिथिल पड़ जाता है, इन्द्रियां काम नहीं करतीं, हाथ पैर कांपने लगते हैं, कमर झुक जाती है, चमड़ी सिकुड़ जाती है, और शरीर अपने आपको सँभाल नहीं सकता। कालूरामजी किस समय उसे गिरफ्तार करके ले जाएँगे, कहा नहीं जा सकता। हर समय उनके आने की सम्भावना बनी रहती है। और फिर एक दिन मानव इह भव की यात्रा पूर्ण करके परलोक के लिए प्रसाण कर देता है।

तो अमरसेन-वीरसेन ने सोचा-इस जीवन का कोई भरोसा नहीं, किसी भी समय मौत आकर जीवन का खात्मा कर सकती है। मुनिराज ने तप-त्याग करने का उपदेश दिया है। हम लोग अधिक नहीं तो कम से कम आज आहार का ही त्याग कर दें।

यह सोच कर दोनों मुनिराज के सामने हाथ जोड़ कर खड़े हो गए और उन्होंने उपवास की तपस्या कर ली। गुरु महाराज ने भी उनकी भावना के अनुसार उपवास करवा दिया। उपवास व्रत अंगीकार करके वे अपने घर आ पहुँचे।

किस प्रकार वे अपने हिस्से का भोजन मुनिराज को बहराते हैं और उसका क्या फल मिलता है, इत्यादि आगे का वृत्तान्त आगे सुनने से ज्ञात होगा।

ता० ११-९-५९
केन्टोनमेन्ट बैंगलोर

भावना भवनाशिनी

प्रार्थना



यदर्चायाभावेन प्रमुदितमना दर्दुर इह
क्षणादासीत् स्वर्गी गुणगणसमृद्धः सुखनिधिः।
लभन्ते सद्भक्ताः शिवसुखसमाजं किमु तदा,
महावीर स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥

चरम तीर्थ नाथ भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए कवि भागचन्दजी कहते हैं–भगवन् ! भक्तिभाव के कारण हर्षित मन वाला मेंढ़क भी, क्षण भर की भक्ति से स्वर्ग का भागी हो गया। वह अनेक गुणों से सम्पन्न तथा दिव्य सुख का भाजन बन सका। आपके सच्चे भक्त मुक्ति के आनन्द को प्राप्त कर लेते हैं तो क्या बड़ी बात है ? जिनकी भक्ति ऐसी लोकोतर फलदायिनी है, वह महावीर स्वामी मेरे नेत्रों के समक्ष रहें ?

भाईयों ? वह मेंढ़क कौन था जिसने निर्भय योनि में भी भगवान् की अल्पकालीन भक्ति करके प्रथम देवलोक को प्राप्त कर लिया ? आप उसके विषय में सन्त महात्माओं के मुख से कई बार सुन चुके होंगे। आज मैं भी उसके सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाल देना चाहता हूं।

इस मेंढक का विस्तृत वर्णन श्रीमद् ज्ञाताधर्म कथांग में किया गया है और ,वही जीवनगाथा आपके समक्ष प्रस्तुत की जाती है।

भगवान् महावीर स्वामी के समय की बात है। राजगृह नगर में नंदन मणियार नामक एक सेठ रहता था। वह बहुत समृद्धिशाली था। वह केवल धन से, बल्कि गुणों से भी सम्पन्न था भगवान के उपदेशामृत का पान करके उसने श्रावक के बारह व्रतों को अंगीकार किया था। वह अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन पौषध व्रत किया करता था और धर्म, अर्थ तथा काम का सेवन करता हुआ समय व्यतीत कर रहा था।

कालान्तर में सच्चे साधुओं की संगति न मिलने से तथा असाधु पुरुषों को विशेष सम्पर्क होने से उसके विचारों में अन्तर आने लगा। असत्संगति का बुरा परिणाम नंदन मणियार के जीवन पर पड़े बिना न रहा। असाधु पुरुषों की अशुद्ध देशना से उसके सम्यक्तव के पर्याय क्षीण हो गए उसके विचारों में भारी परिवर्त्तन आगया। उसकी विशुद्ध श्रद्धा अशुद्ध रूप में पलटने लगी।

ग्रीष्मकाल का समय था। भयानक गर्मी पड़ रही थी। नंदन सेठ ने पौषधव्रत कर रक्खा था। तेज गर्मी के कारण उसे प्यास लगी और उसका कंठ सूकने लगा। निद्रा भंग हो गई और वह प्यास की पीड़ा से तड़फने लगा। वह सोचने लगा— ऐसी गर्मी क समय में एक जगह बैठे हुए भी मुझको प्यास इतनी सता रही है तो उन पथिकों की क्या दशा होती होगी जो एक जगह से दूसरी जगह जाते हुए रास्ते में पानी नहीं पाते हैं। पानी के अभाव में उन्हें कितनी पीड़ा होती होगी ?

प्यास की पीड़ा के कारण उसके चित्त में दूसरी ही कल्पना उड़ान भरने लगी। सोचने लगा-पुण्ययोग से मुझे विपुल धनराशि प्राप्त हुई है। अगर यह धन पुण्य कार्य में व्यय न किया गया तो फिर किस कामका है? इस प्रकार विचार करते करते उसने एक संकल्प किया-नगर के बाहर जो जमीन फालतू पड़ी हुई है, वह महाराज को उचित मूल्य देकर मैं खरीद लूं। उधर से बहुत पथिक आते-जाते रहते हैं। उनके आराम के लिए एक बढ़िया बावड़ी बनवा दूं, जिससे वे लोग गर्मी के दिनों में ठंडा जल पीकर अपनी प्यास बुझा सकें।

यही नहीं, वहां एक सुन्दर उद्यान भी बनवाऊँ और चार बढिया इमारतें भी बनवा दूं। उनमें एक धर्मशाला होगी जिसमें राहगीर आराम से ठहर सकेंगे। एक में भोजनशाला खुलवा दूंगा, वहां भूखे लोग भोजन करके क्षुधा की वेदना से छुटकारा पा सकेंगे। तीसरी इमारत में औषधालय की स्थापना करूँगा, जिससे सब प्रकार के बीमार राहत पा सकेंगे। चौथी इमारत अलङ्कार-सभा होगी। :वहां लोग आनन्दपूर्वक स्नान करेंगे, हजामत बनवायेंगे, शृङ्गार करेंगे और अपना मन प्रसन्न करेंगे।

इस प्रकार वहां लोगों को सब प्रकार की साता सुविधा मिलेगी तो मेरी ख्याती होगी, कीर्त्ति बढ़ेगी और साथ ही मैं पुण्य का उपार्जन भी कर लूँगा।

प्यास लगने के कारण, सेठ के मन में, पौषधव्रत की अवस्था में, इस प्रकार के विचार उत्पन्न हुए। यद्यपि पौषधव्रत में आरम्भ-समारम्भ का विचार नहीं उत्पन्न होना चाहिए,

तथापि आप जानते हैं कि मन अत्यन्त चपल है। इधर-उधर चक्कर लगाता ही रहता है। उसका मन व्रत की मर्यादा का उल्लंघन करके आरम्भ के विचारों में लीन हो गया। उसने अन्त में निर्णय कर लिया कि सबेरा होते ही पौषधव्रत पार कर राजा के पास जाऊँगा और भेंट देकर जमीन प्राप्त कर लूँगा।

नन्दन मणियार की शेष रात्रि इन्हीं विचारों में पूरी हुई। प्रातःकाल होते ही वह आवश्यक कृत्यों से निवृत्त होकर और बहुमूल्य उपहार लेकर राजा श्रेणिक की सेवा में उपस्थित हुआ। नमस्कार करके तथा उपहार चरणों में रख कर यथास्थान बैठ गया।

राजा ने पूछा—सेठजी! आज किस प्रयोजन से आना हुआ।

नन्दन सेठ ने निवेदन किया—महाराज! शहर के बाहर की परती जमीन की याचना करने आया हूँ। यह कह कर उसने अपनी सोची हुई योजना श्रेणिक के समक्ष प्रस्तुत की।

राजा श्रेणिक ने सेठ की मांग स्वीकार करते हुए कहा—तुम्हारा विचार सुन्दर है। मैं सहर्ष भूमि देता हूँ। एक तरह से तुम मेरा ही काम कर रहे हो। प्रजा को आराम पहुँचाने के मेरे उत्तरदायित्व में हाथ बंटा रहे हो।

राजा की स्वीकृति मिलने के बाद घर आकर उसने भूमि-विशेषज्ञों को बुलाया और आदेश दिया कि—जाकर तलाश करो कि किस जगह मीठा पानी निकल सकता है।

वैज्ञानिक प्रगति के इस युग में भूगर्भशास्त्र का निर्माण हुआ है, मगर प्राचीन काल में भी ऐसे-ऐसे अनुभवी लोग मौजूद रहते थे जो यन्त्रों की सहायता के बिना ही पृथ्वी के पेट का पता लगा लेते थे और बतला देते थे कि अमुक जगह मीठा पानी है और अमुक जगह खोदने से खारा पानी निकलेगा। आज भी देहातों में इसकी अनेक परीक्षा-कसौटियां प्रचलित हैं। यथा—जहां गधे अधिक लोटते हों, समझना चाहिए कि वहां पानी जल्दी निकलेगा।

भूपरीक्षकों ने अपनी कसौटी का प्रयोग करके निर्णय कर लिया कि अमुक स्थल पर खुदाई करने से मीठा पानी निकलेगा नन्दन मणियार को इसकी सूचना दे दी गई। नन्दन मणियार ने खुदाई का काम प्रारम्भ करवा दिया। बावड़ी खुदी और मीठा पानी निकल आया। तब चारों ओर वह पक्की बंधवाई गई। बावड़ी का पानी बहुत उत्तम था, अत्यधिक हल्का, शीतल और मीठा। जो पीता तबियत खुश हो जाती।

सेठ को अत्यन्त हर्ष और संतोष हुआ। उसका मनोरथ पूर्ण हुआ और धन सार्थक हुआ। इससे उत्साहित होकर उसने चारों ओर सुन्दर बगीचा लगवाया और चार दिशा में चार बढ़िया इमारतें बनवाई—

विश्रामसभा, भोजनशाला, औषधालय और शृङ्गारभवन। चारों भवनों में सभी उपयोगी साधन रखवा दिये गये। पथिकों को और नगर से आने वाले लोगों को सब प्रकार का आराम हो गया।

नन्दन सेठ ने एक अच्छी धनराशि पृथक् निकाल दी जिससे शुभ कार्य स्थायी रूप से चलता रहे और बंद होने का अवसर न आवे।

नन्दन सेठ की उदारता और सूझ-बूझ की प्रशंसा होने लगी। दूर-दूर तक उसकी कीर्त्ति फैल गई। अपनी प्रशंसा सुनकर वह फूला नहीं समाता था। उसके अन्तःकरण में बावड़ी के प्रति असीम ममता उत्पन्न हो गई।

दुर्भाग्य से एक वार उसके शरीर में सोलह भयंकर रोग उत्पन्न हो गए। उसका निज का दवाखाना चल रहा था और उसमें कुशल चिकित्सक थे। उन्होंने इलाज किया। बाहर के भी अनेक निष्णात वैद्य बुलाये गये। पानी की तरह पैसा खर्च किया गया, परन्तु बीमारी शान्त नहीं हुई। शारीरिक वेदना बढ़ती ही गई। जीवन का अन्त सन्निकट आ गया। ऐसे समय भी नन्दन मणियार का मन धर्मध्यान और परमात्मचिन्तन में न लग कर वावड़ी में ही उलझा रहा। वावड़ी के प्रति उसकी ममता अधिकाधिक बढ़ती ही गई। परिणाम यह हुआ कि नन्दन सेठ शरीर त्याग कर ममता की अधिकता के कारण अपनी बनवाई वावड़ी में ही मेंढक के रूप में उत्पन्न हुआ।

राहगीर आते हैं, शीतल जल पीते हैं और नन्दन सेठ की प्रशंसा करते करते नहीं अघाते। कहते हैं—धन्य था नन्दन मणियार जिसने बहुत-सा धन खर्च करके इतनी सुन्दर वावड़ी बनवाई! कितने लोगों को आराम मिलता है। कितने मनुष्य, पशु, पक्षी आदि साता पाते हैं।

नन्दन मणियार का जीव मेंढक श्वास लेने के लिए पानी से बाहर आता है और सीढ़ी पर बैठ जाता है। लोगों की प्रशंसा के शब्द उसके भी कानों में पड़ते हैं। खयाल आता है उसे कि इस प्रकार के शब्द उसने पहले भी सुने थे। विचार करते-करते जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होता है और उसे अपने पूर्वभव की स्मृति हो आती है। तब वह सोचने लगता है—अहो, मैं ही नन्दन मणियार था। मैंने ही पौषधव्रत में वावड़ी, बगीचा और इमारतें बनवाने का संकल्प किया था। परन्तु हाय ! इस वावड़ी ने मुझे डुबा दिया। इसमें मैं इतना आसक्त और गृद्ध हो गया कि अन्तिम समय में भी इसी का ध्यान करता रहा और परमात्मा को भूल गया। इसी कारण मुझे इस वावड़ी में मेंढक का जन्म लेना पड़ा। हाय गृद्धि ! हाय कीर्त्तिकामना ! इन्होंने मेरे किये पर पानी फेर दिया।

तत्पश्चात् वह विचार करता है—श्रमण भगवान् महावीर जहां कहीं हों, मेरी वन्दना स्वीकार करें। प्रभो ! आपकी साक्षी से मैं पुनः श्रावक के व्रत अंगीकार करता हूँ। आज से ही मैं वेले-वेले पारणा करूँगा और पारणा में भी प्रासुक (अचित्त) जल और अन्न ही ग्रहण करूँगा।

मेंढक व्रतधारी उपासक बन गया। नियमों का पालन करते हुए बहुत दिन व्यतीत हो गए। तब एक बार श्रमण भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए पधारे और राजगृह नगर के गुणशील बाग में विराजमान हुए। वावड़ी पर आये हुए लोगों के मुँह से उस मेंढक को भी भगवान् के पदार्पण का समाचार ज्ञात हुआ। उसके प्रमोद का पार न रहा। हर्ष से उसका हृदय उछलने लगा।

मेंढक ने विचार किया–एक दिन मैं भी भगवान् का मानव श्रावक था। किन्तु साधुओं की संगति न करके दूसरों के चक्कर में पड़ जाने के कारण आज मैं इस दशा में हूं।

भाइयों ! जरा मेंढक के जीवन पर गहरी दृष्टि डालो। सन्तों के समागम को त्याग देने का क्या नतीजा होता है, इसका सजीव उदाहरण यह मेंढक है। अतएव साधुओं का दर्शन हो जाय और कदाचित् फिर योग न मिले तो भी उनके दर्शन के लिए तरसना चाहिए और जब तक उनके पुनः दर्शन न हों, तब तक उनके उपदेश का पालन करते हुए धर्माचरण करते रहना चाहिए। बीच में कोई छोटे सन्त आएँ तो उनकी भी संगती करना चाहिए। ऐसा करने से आपकी शुद्ध श्रद्धा में किसी प्रकार का विचार न आएगा और वह बढ़ती रहेगी। कभी भूल कर भी नहीं सोचना चाहिए कि हम बड़े-बड़े सन्तों की सेवा कर चुके हैं, अब छोटे सन्तों की क्या सेवा करें। जब जिस रूप में सत्-संगति का अवसर मिले, लाभ उठाना चाहिए।

हां, तो मेंढक को भगवान् महावीर के आगमन की सूचना मिली और उसके हृदय की सद्भावना जाग उठी। उसने भगवान् का दर्शन करके अपने जीवन को सार्थक बनाने का विचार किया। वह बावड़ी से बाहर निकला और राजमार्ग से होकर, भगवान् के दर्शनार्थ रास्ता तय करने लगा।

उधर राजा श्रेणिक भी स्नान करके वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर, सजे हुए हाथी के हौदे पर आरूढ हो, भगवान् के दर्शन के निमित्त अपने महल से रवाना हुआ। राजा की सवारी

के आगे चतुरंगी सेना चल रही थी। उस समय का दृश्य बड़ा ही सुन्दर और भव्य दिखाई दे रहा था।। नगर की जनता के समूह भी उसी ओर बढ़े चले जा रहे थे।

संयोग की बात! मेंढक अपनी मंद गति से बड़े ही उल्लास और उत्साह के साथ मस्ती में झूमता हुआ राजपथ पर चला जा रहा था। कि एक घोड़े की टाप का आघात उसे लग गया। आघात से मेंढक का सुकोमल और छोटा सा शरीर अधकुचला हो गया। वह शरीर से समवसरण तक पहुंचने में असमर्थ हो गया। किसी प्रकार अपनी आहत काया को घसीटता-घसीटता वह राजपथ के एक किनारे लाया और विचार करने लगा–प्रभो आप अन्तर्यामी हैं। अपने लोकोत्तर ज्ञानदर्शन से सब कुछ जानते-देखते हैं। चाहता था, आपके दर्शन का लाभ करूँ, मगर अब यह असंभव है। इतना पुण्य मेरे पल्ले में नहीं है। अतएव भगवन्! मैं आपकी साक्षी से अठारहों पापों का तथा चारों प्रकार के आहार का परित्याग करता हूं और इस शरीर का भी उत्सर्ग करता हूँ।

इस प्रकार मेंढक ने संथारा ग्रहण कर लिया। शुद्ध भावना में उसके शरीर का त्याग किया और प्रथम देवलोक में, जिसमें बत्तीस हजार विमान हैं, एक विमान में देवरूप से उत्पन्न हुआ।

देवलोक में उत्पन्न होकर अन्तर्मुहूर्त्त जितने समय में ही देव बत्तीस वर्ष का नौजवान-सा हो जाता है। उसी समय बहुत-से देवी-देव सेवामें उपस्थित होते हैं और स्वागत करके पूछते हैं—आपने क्या दान दिया था, क्या शील पाला था, क्या तपस्या

की थी और कौन-सी उत्कृष्ट भावना भाई थी, जिससे आप हमारे नेता बने ?

नवजात देव ने जब अपने पिछले भव के विषय में उपयोग लगाया तो सद्यः घटित घटना उसके ध्यान में आई। उसने सोचा—मैं मेंढक था, भगवान् के दर्शन के लिए जा रहा था। रास्ते में कुचल गया और संथारा कर देवता हो गया। दर्शन की अभिलाषा पूरी न हो सकी। उस अभिलाषा को पूर्ण करने का यह उपयुक्त अवसर है।

उस दर्दुर देव ने अपने अधीनस्थ देवों को बुलाया और कहा—तुम जाकर भगवान् महावीर के दर्शन करो और समवसरण में जाकर कह दो कि दर्दुर देवता प्रभु के दर्शन के लिए आ रहा है।

तत्पश्चात् दर्दुर देव अपने विमान में बैठ कर भगवान् की सेवा में उपस्थित हुआ और समवसरण में जा पहुँचा। शुद्ध हृदय से भगवान् को वन्दन-नमस्कार करके उपदेश सुनने को बैठ गया। भगवान् के मुखारविन्द से उपदेश श्रवण करने के पश्चात् देवता ने विनयपूर्वक अपने विषय में पूछा। अन्य छह प्रश्न भी किए। श्रमण भगवान् महावीर ने उत्तर दिये।

तत्पश्चात् उसने निवेदन किया—भगवन्! मैं आपको नहीं, पर अन्य साधु-साध्वियों को नाटक दिखलाना चाहता हूं। भगवान् मौन रहे, न हां की और न नाही की। नास्तिकों के हृदय में इस प्रकार के कार्यों से भी आस्तिकता का उद्रेक हो जाता है। अतएव भगवान् मौन हो रहे।

तत्पश्चात् दर्दुर देव ने अपनी एक भुजा लम्बी करके एक सौ आठ कुमारों की और दूसरी भुजा लम्बी करके एक सौ आठ कुमारियों की विक्रिया की। फिर बत्तीस प्रकार के नाटक दिखलाए। नाटक दिखलाने के बाद अपनी विक्रिया को समेट लिया। अन्त में वह देव भगवान् को वन्दना-नमस्कार करके पुनः देवलोक में लौट गया।

देवता के चले जाने के पश्चात् श्री गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया-भगवन् ! वह देवता कौन था ? उसे इतनी ऋद्धि कैसे मिली ? भगवान् ने देवता के पूर्वजन्मों का वृत्तान्त सुनाया, जिससे श्रोताओं के मन में वैराग्य की वृद्धि हुई।

वास्तव में भगवद्भक्ति में अद्भुत शक्ति है। उत्कृष्ट रसायन आ जाय तो क्षण मात्र की भक्ति से भी अनन्त जन्म-जन्मान्तरों के पाप नष्ट हो जाते हैं और क्रमशः आत्मा को परमात्मपद की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए कवि ने कहा है कि-'प्रभो ! आप मेरी दृष्टि के सन्मुख हों।' जो अपने अन्तर्नेत्रों में परमात्मा के रूप का दर्शन करता है, जिसे परमात्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है, उसकी अकुशल कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होती। यह नहीं, उसकी आन्तरिक वृत्तियां इतनी पवित्र हो जाती हैं कि वह समस्त पापों का अन्त करके सिद्ध बुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

समवायांगसूत्र—

भाइयों ! अब आपके समक्ष श्रीसमवायांग सूत्र के अर्थ पर किंचित् प्रकाश डाला जा रहा है समवायांग बारह अंगों में

चौथा अंग है और वह तात्विक प्ररूपणा से परिपूर्ण है। फिर भी अगर आप एकाग्रचित्त होकर सुनेंगे तो रस प्राप्त होगा और आपके कर्म हल्के हो जाएँगे।

सर्व प्रथम प्रस्तुत सूत्र में एक-एक संख्यक वस्तुओं का कथन है। कुछ के विषय में आपको बतलाया जा चुका है। आगे कहा गया है—

एगे पावे—पाप एक है। यों तो अठारह पाप बताए गये हैं, परन्तु संग्रहनय की अपेक्षा से, सामान्य की मुख्यता से यहां एक ही पाप कहा गया है, क्योंकि सभी पापों में पापत्व समान है।

एगे बंधे—कर्मों का आत्मा के साथ एकमेक हो जाना बंध कहलाता है। यद्यपि प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध, और प्रदेशबंध के भेद से बध चार प्रकार के हैं, तथापि सामान्य की अपेक्षा से बन्ध एक ही है।

एगे मोक्खे—मोक्ष एक है समस्त कर्मों से आत्मा का छुटकारा होना मोक्ष कहलाता है। मुक्तात्मा सभी एकसी अवस्था में रहते हैं, अतः मोक्ष एक है यद्यपि जीवनमुक्ति और विदेह-मुक्ति के भेद से उसके दो भेद हो सकते हैं, किन्तु उनकी यहां विवक्षा नहीं की गई है।

एगे आसवे—आस्रव एक है। यद्यपि मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय और योग के भेद से आस्रव के पांच भेद तथा प्रकारान्तर से बीस भेद भी हैं, तथापि सामान्यतः एक ही आस्रव हैं।

एगे संवरे—संवर एक है आस्रव का रुक जाना संवर कहलाता है। अतएव जितने आस्रव के भेद हैं उतने ही उसके निरोधरूप संवर के भी भेद होते हैं। जैसे मिथ्यात्व आस्रव है तो सम्यक्त्व संवर है, अविरति आस्रव है तो विरति संवर है, हिंसा असत्य आदि आस्रव हैं तो अहिंसा सत्य आदि संवर हैं। मगर सामान्य रूप से संवर एक ही है।

एगा वेयणा—वेदना एक है। शुभाशुभ कर्मों को भोगना वेदना है। वह भी सामान्य की अपेक्षा एक है।

एगा निज्जरा—निर्जरा एक है। वेदन होने के बाद कर्म की निर्जरा हो जाती है अर्थात् वह आत्मप्रदेशों से अलग हो जाता है। अतः वेदना के पश्चात् निर्जरा का कथन किया गया है। यों तो निर्जरा के बारह भेद माने गये हैं और भेदानुभेद की अपेक्षा से २५४ भेद भी कहे जाते हैं, मगर इस सबका समावेश एक में ही हो जाता है।

इसके अलावा बतलाया गया है कि मध्यलोक के असंख्यात द्वीप-समुद्रों में प्रथम जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन का है। आगे के समुद्रों और द्वीपों का विस्तार दूना-दूना होता गया है।

सातवें नरक के पांच नारकावास हैं—काल, महाकाल, रोरूय, महारोरूय और अप्रतिष्ठान। इसमें अप्रतिष्ठान नारकवास एक लाख योजन का है।

शक्रेन्द्र महाराज का पालक नामक विमान भी एक लाख योजन का होता है। तीर्थंकर भगवान् के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान-

लाभ और निर्वाण के समय इन्द्र महाराज का आगमन होता है तो उसी पालक विमान से आते हैं,। यहां आने पर सारा जम्बू-द्वीप उससे व्याप्त हो सकता है, मगर उसे छोटे रूप में भी बना लिया जाता है। जैसे कपड़े का थान लम्बा-चौड़ा होता है परन्तु होशियारी से लपेट देने पर वही छोटी जगह में समा जाता है।

तत्पश्चात् बतलाया गया है कि सर्वार्थसिद्ध नामक विमान अर्थात छब्बीसवां देवलोक या पांच अनुत्तर विमानों में जो बीच का विमान है, वह भी एक लाख योजन का है।

आर्द्रा नक्षत्र का एक ही तारा है। अट्ठाईस नक्षत्रों में आर्द्रा पानी का नक्षत्र गिना जाता है। इसके अतिरिक्त चित्रा नक्षत्र का भी एक ही तारा है। नाक में पहनी हुई लौंग के समान उसका आकार है। स्वाति नक्षत्र का भी एक ही तारा है।

विश्व में ऐसी बहुत-सी वस्तुएँ हैं जिन्हें एक-एक रूप में कहा या जाना जा सकता है, परन्तु तत्त्वबोध कराने की दृष्टि से यहां थोड़ी-सी वस्तुओं के नाम गिनाये गये हैं। अब जरा जीवों की आयु के विषय में भी देखिए।

बतलाया गया है कि रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक के नारकों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की है। वहां कोई-कोई नारक ऐसा भी है जिसकी आयु एक पल्योपम की होती है। दूसरे नरक में जघन्य स्थिति एक सागरोपम की है। किसी-किसी असुरकुमार देवता की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है और किसी-किसी की किंचित् न्यून एक सागरोपम की है। असुरकुमारों के अतिरिक्त नौ भवनपति देवों की एक पल्योपम की स्थिति है।

असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च की स्थिति भी एक पल्योपम की है। असंख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज मनुष्यों की भी एक पल्योपम की आयु है। वाण-व्यन्तर जाति के देवों की जो १६ प्रकार के हैं, उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम की है। ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम और एक लाख वर्ष की है। सौधर्म देवलोक के देवों की जघन्य एक पल्योपम की स्थिति है और किसी-किसी देव की एक सागरोपम की भी स्थिति है। ईशान देवलोक में किसी-किसी देवता की एक सागरोपम की स्थिति है। यह भी बतलाया गया है कि ईशान देवलोक के सागर सुसागर, सागरकान्त, भव, मनु, मानुपोत्तर एवं लोकहित विमान में जो देव उत्पन्न होते हैं, उनकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की कही गई है।

जिन-जिन देवताओं की आयु एक सागरोपम की है, वे देवता एक पक्ष में एक बार श्वासोच्छ्वास लेते हैं। एक हजार वर्ष में उनको भोजन की इच्छा होती है।

भाइयो ! आहार तीन प्रकार का होता है—रोमाहार, कवलाहार और ओजाहार। देवता रोमाहार करते हैं, मनुष्य और तिर्यञ्च कवलाहार करते हैं और गर्भस्थ बालक ओजाहार करता है।

आगे कहा गया है कि कितने ही भव्य जीव ऐसे हैं जो एक भव करके मोक्ष में चले जाएँगे।

अमरसेन--वीरसेन चरित—

बतलाया जा चुका है कि जिनदास सेठ के साथ गये हुए

ग्वाल बच्चों पर मुनिराज के उपदेश का गहरा असर पड़ा। उपदेश के अन्त में बालकों ने निवेदन किया—भगवन्! आज हमें तपस्या करा दीजिए।

मुनिराज ने बालकों की कोमल उम्र देख कर कहा—अभी तुम बच्चे हो। तुम्हें तपस्या करने में कठिनाई होगी।

दोनों लड़के बोले—आप हमारे विषय में किसी प्रकार का संशय न करें। आपके अनुग्रह से हम तपस्या कर लेंगे।

दोनों ने उपवास अंगीकार कर लिया और फिर वन्दन-नमस्कार करके घर पहुँचे। घर पहुंचने पर जिनदास ने कहा—बच्चो! बहुत विलम्ब कर दिया। आज मेरे उपवास है। तुम भोजन कर लो।

तब बालकों ने कहा—आज मुनिराज का तपस्या के संबंध में जो प्रवचन हुआ, हमें अत्यन्त रुचिकर लगा। अतएव हम दोनों ने भी उपवास कर लिया है।

सेठ ने कहा—तुम बालक ठहरे, कैसे उपवास होगा? फिर भी कर लिया है तो एक काम करना। अपने हिस्से का भोजन किसी मुनिराज को वहरा देना।

दोनों बच्चों ने सेठजी के परामर्श को स्वीकार कर लिया। वे मुनि के आगमन की बाट देखने लगे।

भाइयो! उन बालकों के चित्त में दान देने की उत्कृष्ट भावना उत्पन्न हुई तो उन्हें शीघ्र सफलता भी मिल गई। मुनि-

गए वहां पधारे हुए थे ही और उनमें से किसी को पारणा भी करना था। वे तपोधनी अपने गुरु महाराज की आज्ञा लेकर पारणा के निमित्त नगर में पधारे। अकस्मात् जिनदास सेठ की हवेली में उनका पदार्पण हो गया। दोनों बालक प्रतीक्षा में बैठे ही थे। ज्यों ही उन्होंने मुनिराज को द्वार पर आते देखा त्यों ही वे हर्ष से गद्गद हो गए। उन्होंने खड़े हो कर मुनिराज को वन्दना की और निवेदन किया–भगवन्! हमारे ऊपर अनुग्रह कीजिए और हमारे हाथ से दान लेकर हमें भवसागर से पार कीजिए।

मुनिराज ने उनकी भावना सफल की। उन दोनों ने दरवाजे पर ही आहार लाकर मुनिराज को वहरा दिया।

यहां कवि कहते हैं–वहां चित्त, वित्त, (देय द्रव्य) और पत्त (पात्र) तीनों शुद्ध थे, तीनों की उत्कृष्टता का योग मिल गया। अर्थात् देने वालों की भावना उत्कृष्ट थी। महात्मा को जैसी वस्तु की आवश्यकता थी, वैसी ही तैयार थी और संयमी पात्र उत्कृष्ट थे ही। उन बालकों ने अपनी जीवन में प्रथम वार ही सुपात्र को उत्कृष्ट भावना से दान दिया था। अतःएव इस दान के फलस्वरूप उनका संसार परीत हो गया। अन्यथा न जाने कितने काल तक भवभ्रमण करते रहते। मगर उन्होंने अपने अनन्त संसार को सीमित कर लिया, शीघ्र मोक्ष प्राप्त करने के अधिकारी बन गये।

भाइयों कर्मों को चकनाचूर करने में भावना प्रधान कार्य करती है। शुद्ध भावना के बिना कर्म हल्के नहीं होते। दोनों

वालक भावना के उच्च से उच्चतर सोपानों पर चढ़ते गए, परन्तु गिरे नहीं। इसी से उनका संसार कम हो गया। उन्होंने दुर्गति में ले जाने वाले बन्धनों को तोड़ दिया।

तीर्थङ्कर गोत्र बँधने के बीस बोलों में एक बोल यह भी है कि सुपात्र को दान देते हुए शुद्ध भावना आ जाय और उत्कृष्ट रसायन आजाय तो जीव तीर्थङ्कर गोत्र का उपार्जन कर लेता है।

श्रीमद् ज्ञातासूत्र में भगवान् ने फर्माया है कि अशुद्ध और दुष्ट भावना से दिया हुआ दान जीव को जन्म जन्मान्तरों में दुर्गति का अधिकारी बना देता है। नागश्री ब्राह्मणी ने महातपस्वी धर्मरुचि अनगार को एक मास की तपस्या का पारणा के दिन कटुक तूंवे का शाक दूपित भावना से बहरा दिया। उसके सेवन से उनकी मृत्यु हो गई। नागश्री ने संसार को परीत करने के बदले; अपनी दुष्ट भावना के कारण संसार को और अधिक बढ़ा लिया और दुःखमय बना लिया।

घटना यों घटी—चार भाइयों में बहुत प्रेम था। जाति से वह ब्राह्मण थे। चारों के विवाह हो चुके थे। वे खूब हिल मिलकर रहते थे। उस कुटुम्ब में प्रत्येक घरेलू काम वारी वारी से किया जाता था। अतएव किसी के मन में ईर्षा-द्वेशष का भाव नहीं उत्पन्न हो पाता था। एक दिन नागश्री ब्राह्मणी की रसोई बनाने और जिमाने की वारी थी। उसने प्रातःकाल जल्दी उठकर तथा दैनिक कृत्यों से निवृत्त होकर भोजनशाला में जाकर भोजन बनाना आरम्भ कर दिया। भोज्य सामग्री में तूंवे का शाक भी बड़ी सफाई से और विशेष रूप से मसालों का प्रयोग करके

बनाया। जब भोजन तैयार हो गया तो नागश्री ने मेहमानों को जिमाने से पहले चखना आरम्भ किया जिससे किसी वस्तु में कोई कमी मालूम हो तो उसे सुधारा जा सके। उसने तूंबे के शाक को चखा तो थू थू करके थूंक दिया। तूंबा कडुआ जहर था वह पहले न चख लेने की अपनी भूल पर पश्चाताप करने लगी। मगर अब हो ही क्या सकता था। उसने उस शाक को कहीं फेंक देने का विचार किया। वह फेंकने के लिए तैयार हो ही रही थी कि धर्मरुचि अनगार उसके घर पर जा पहुँचे। मुनिराज को देखकर उसने सोचा-चलो अच्छा हुआ। मैं इसे ऊकरड़ी पर फेंकने जा रही थी, भाग्य से ऊकरड़ी स्वयं मेरे पास आ गई। इससे बढ़कर खुश-किस्मती और क्या हो सकती है? इस प्रकार विचार कर उसने ऊपरी मन से स्वागत किया। तपस्वी ने पात्र रखा और उसने वह शाक पात्र में उंड़ेल दिया, तपस्वी इन्कार करते ही रह गए, उसने सारा शाक पात्र में डाल दिया।

धर्मरुचि अनगार उसी शाक को पर्याप्त आहार समझकर अन्य आहार लिये बिना ही गुरु के पास पहुँचे, पात्र उघाड़ कर दिखाया तो केवल शाक देखकर धर्मरुचिजी से पूछा—आयुष्मान! आज ऐसा कौन दातार मिल गया जिसने अकेले शाक से ही पात्र भर दिया? उनके दिल में सन्देह पैदा हो गया—इतना शाक बहराने में कोई न कोई रहस्य होना चाहिए, उन्होंने उँगली से लेकर शाक को जीभ से लगाया तो मालूम हुआ कि यह तो कडुवा जहर है। तब उन्होंने कहा—तपस्विन्! यह शाक तुम्हारे खाने योग्य नहीं है, मैं आज्ञा देता हूँ—इसे ले जाकर कहीं निर्जीव जगह में परठ दे, जहां किसी जीव-जन्तु की विराधना न हो।

गुरु के आदेशानुसार धर्मरुचि अनगार झोली लेकर जंगल में गए। वहां उन्होंने देखा–यहां ईंटें पकाई गई हैं और इससे अधिक निर्दोष स्थान मिलना कठिन है। वहां पहुँच कर उन्होंने शाक की एक बून्द डाली। थोड़ी ही देर में शाक की गंध से कई कीड़ियां वहां आ पहुँचीं और मर गईं। यह दयावह दृश्य देख मुनिराज ने सोचा—गुरुजी के आदेशानुसार ऐसे स्थान पर शाक परठना है जहां जीवविराधना न हो, मगर ऐसा कोई स्थान यहां दीखता नहीं है। तो इसे पेट में ही क्यों न परठ दूँ ?

इस उत्कृष्ट भावना से, जीवरक्षा के निमित्त, मुनि उस जहर को पी गए। पीने के बाद भी उनकी उत्कृष्ट भावना में लेश मात्र भी कमी नहीं हुई। शाक के जहर ने पेट में पहुँचते ही जादू सा असर दिखलाना शुरु किया। सारे शरीर की आतें खिंचने लगीं। एक कदम भी चलने की शक्ति न रही। भूमि का प्रमार्जन करके वहीं संथारा ग्रहण कर लिया।

भाइयो ! जीवरक्षा की विशुद्ध अध्यवसायधारा के फलस्वरूप धर्मरुचि अनगार काल करके अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए और वहीं सुखों की अनुभूति कर रहे हैं।

पर्याप्त समय व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी जब धर्मरुचि अनगार वापिस न लौटे तो गुरुजी के मन में सहज आशंका उत्पन्न हो गई। उन्होंने अपने शिष्यों को तलाश करने के लिए भेजा। शिष्य इधर उधर तलाश करते हुए आखिर उस स्थान पर पहुंच गए जहां धर्मरुचि महात्मा का मृतक कलेवर था। देखकर सन्त स्तब्ध रह गए। उनके हृदय में भी शोक की हिलोरें उठने

लगीं। वे उलटे पैरों लौट कर गुरु की सेवा में पहूंचे और बोले–भगवन् ! धर्मरुचि अनगार अब इस संसार में नहीं रहे। वे नश्वर शरीर को इस पृथ्वीतल पर त्याग कर स्वर्ग–सिधार गए हैं। यह उनके उपकरण हैं।

इस दुर्घटना का समाचार सुन कर गुरु महाराज का भी दिल दहल उठा। कुछ देर के लिए वे किंकर्त्तव्यमूढ़-से हो गए। बाद में शान्तभाव से उन्होंने शास्त्र ज्ञान से जान लिया कि मेरा शिष्य देवलोक में गया है।

भाइयो ! गुरु महाराज ने तो नागश्री के दुष्कृत्य की बात मन ही में रख ली, मगर अन्य मुनियों से नहीं रहा गया। उन्होंने यह बात प्रकट कर दी कि नागश्री ब्राह्मणी ने महातपस्वी धर्मरुचि अनगार को कडुआ तूम्बा बहरा कर मार डाला।

नागश्री के घर वालों के कानों तक यह बात पहुँची। उन्होंने कुपित होकर और मुनिघातिनी समझ कर उसे घर से बाहर निकाल दिया। वह जिस गली-कूचे में होकर निकलती, लोग धिक्कार की वर्षा करते, घृणा प्रकट करते और धुतकार-फटकार कर भगा देते। सर्वत्र उसकी बुराई होने लगी। जब उसके पाप बदला लेने के लिए उदय में आए तो शरीर में १६ राग उत्पन्न हो गए। नागश्री उन भयानक पीड़ा पहुंचाने वाले रोगों से आतंकित होकर कराहती रही, रुदन करती रही, परन्तु किसी ने उसकी बात न पूछी। अन्त में आर्त्तध्यानपूर्वक मर कर वह नरक में उत्पन्न हुई। दुस्सह दुःखों में वहां लम्बा समय व्यतीत हुआ। उसे अनेक बार नरकों में उत्पन्न होना पड़ा। चिरकाल के पश्चात

जब पाप हल्के पड़े और पुण्य का उदय आया तब वह द्रौपदी के रूप में उत्पन्न हुई।

कहने का अभिप्राय यह है कि दान ,देने से संसार परीत भी हो जाता है और दान देते समय अशुद्ध विचार आ जाते हैं तो संसार की वृद्धि भी हो जाती है। यह सब खेल भावना का है। इसीलिए ज्ञानी जनों का कथन है कि—हे मानव! अपनी भावना को निर्मल एवं पवित्र रख। भावना पवित्र होगी तो तेरा अवश्य कल्याण होगा और एक दिन अवश्य मोक्ष के सन्निकट पहुँच जाएगा।

सुबाहुकुमार ने, शालिभद्र ने, धन्नाजी ने और देवकी महारानी ने शुद्ध भावना के साथ दान देकर ही संसार को परीत किया था। देवकी महारानी ने तो इतनी उत्कृष्ट भावना से दान दिया कि तीर्थङ्कर गोत्र का उपार्जन कर लिया। सुक्षेत्र में डाला हुआ बीज कभी खाली नहीं जाता। इसी प्रकार सुपात्र को दिया हुआ दान कभी वृथा नहीं होता। अतएव सौभाग्य से जब कभी किसी को देने का प्रसंग आये तो हाथ को मत सिकोड़ो। इसी विषय में प्रसंग पाकर एक बात याद आ रही है। उसे कह देना भी उचित प्रतीत होता है।

एक राहगीर ब्राह्मण किसी दूसरे गांव को जा रहा था। रास्ते में उसने भोजन बना कर खा लेने का विचार किया। सोचा-इससे विश्राम भी मिल जाएगा और दोपहरी का समय भी टल जाएगा। वह पास के एक गांव में गया और दूकानदार से आटा, दाल, घी वगैरह भोजनसामग्री खरीद लाया। उसने बड़ के एक

वृक्ष के नीचे दाल-बाटी बनाई। बाटियां सिक गईं तो घी में तर करके थाली में रख दीं। उसी समय एक दूसरा राहगीर उधर से आ निकला। उसने ब्राह्मण देवता को देखकर मनमें विचार किया-चलो, इसका साथ हो जाएगा तो रास्ता अच्छी तरह कट जाएगा। वह भी उसी बड़ के नीचे जाकर बैठ गया।

दूसरा राहगीर भी भूखा था और उसके पास भूख बुझाने का कोई साधन नहीं था। घी से तर बाटियों पर उसकी दृष्टि पड़ी तो मुँह में पानी आ गया। उसने विचार किया—इसके पास इतनी बहुत बाटियां हैं। अकेला थोड़े ही खा जाएगा। कुछ तो मुझे देगा ही।

इस प्रकार सोच कर उसने ब्राह्मण के दिल को बढ़ाने का विचार किया। इसका दिल बढ़ जाएगा तो कुछ बाटियां मुझे भी दे देगा। वह ब्राह्मण के पास गया और बोला—

सुन जोशी इण दरखत नीचे, बाट्यां कीधी अतरी।
ऊपरा ऊपरी चड्यो चौतरी, ज्यूं बिन थामा छतरी॥

अर्थात्—जोशीजी! आपने बांटियां ऐसी बनाई हैं, मानों बिना थामा की छतरी हो।

ब्राह्मण ने अपनी बाटियों की प्रशंसा तो सुन ली, मगर उसका दिल नहीं पसीजा। उत्तर में ब्राह्मण ने एक शब्द भी नहीं कहा, मौन ही रहा।

तब दूसरे राहगीर ने सोचा—इसकी इतनी खुशामद की, मक्खन लगाया, मगर यह तो पसीजा ही नहीं। यहां मिठास से काम चलने वाला नहीं, कडुवेपन से ही काम लेना चाहिए। यह सोच कर उसने दूसरा दोहा पढ़ा—

जीमाया विना जीमसी, चौड़े कहूँ सुनाय।
केतो दूखे पेट में, तड़फ-तड़फ मर जाय॥

अर्थात्—जोशीजी! इस भोजन पर मेरी नजर लग चुकी है। अतएव यदि मुझे खिलाए बिना खा लिया तो तुम्हारे पेट में ऐसा दर्द उठेगा कि मर जाओगे।

ब्राह्मण भी बड़ा पक्का था। उसने कच्ची गोलियां नहीं खेली थीं। अतएव उसने उत्तर दिया—

मैं डाकी सो डाकियां, दृष्टि लागे नाय।
दुगुणे चौगुणे जीम लूं, सभी हजम हो जाय॥

अर्थात्—हे राहगीर! मैं तो डाकी हूँ। अगर इससे दुगुना और चौगुना भी खा जाऊं तो भी डकार आने वाली नहीं। तू मेरी चिन्ता मत कर।

इतना सुनते ही राहगीर ने सोचा—इन तिलों में से तेल निकलने वाला नहीं। मुझे यहां से चल देना चाहिए और दूसरी जगह भोजन का उपाय करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जहां दाता और पात्र इस प्रकार के हों वहां जीवन में कोई चमक नहीं आ सकती। जीवन का उद्धार तभी सम्भव है जब चित्त, वित्त और पात्र की शुद्धता हो।

तो उन दोनों बालकों ने शुद्ध हृदय से पात्रदान देकर ससार परीत किया। आगे का वृत्तान्त यथासमय कहने की भावना है।

जो भव्य जीव शुभ भावना के साथ सुपात्रदान देंगे, वे इह-परलोक में सुखी होंगे।

ता० १२-६-५६
केन्टोनमेन्ट बैंगलोर

बन्धन-विजय



प्रार्थना

कनत्स्वर्णाभासोऽप्यपगततनुर्ज्ञाननिवहो,
विचित्रात्माऽप्येको नृपतिवर सिद्धार्थतनयः।
अजन्माऽपि श्रीमान् विगतभवरागोद्भुतगतिः,
महावीर स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥ ५ ॥



भगवान् महावीर स्वामी की इस स्तुति में कवि श्री भाग-चन्दजी ने यह भाव व्यक्त किया है कि भगवान् का शरीर देदीप्य-मान था और स्वर्ण के समान कान्ति वाला था। ऐसा शरीर होने पर भी भगवान् का शरीर पर ममत्व भाव नहीं था। ज्ञान के खजाने थे। ऐसे केवल ज्ञान के धारक, अपूर्व और अद्वितीय शरीर के धारक, महाराजा सिद्धार्थ के नन्दन, सुन्दरता को प्राप्त, अजन्मा, अनुभव शोभा के धाम, सांसारिक विषियों में राग रहित, और अद्भुत चारित्र वाले भगवान् महावीर मेरी दृष्टि के सामने हों।

भाइयों ! यहां बतलाया गया है कि चरम जिनेश्वर भगवान् महावीर स्वर्ण वर्ण के धारक थे, अर्थात जैसे स्वर्ण पीला और चमकदार होता है, उसी प्रकार भगवान् के शरीर का वर्ण था। इतना लोकोत्तर सुन्दर शरीर होने पर भी उनका उस पर किंचित् भी ममत्व नहीं था। भगवान् जलजात वैरागी थे। अगर शरीर पर ममता होती तो साढे, बारह वर्ष तक उन्होंने जो तपस्या की, वह कैसे कर पाते ? जिसके मन में शरीर पर ममता है, वह तो उसके लालन पालन में ही लगा रहता है। वह उस शरीर से तपस्या नहीं कर सकता।

भगवान् बाह्य शारीरिक सम्पत्ति के ही स्वामी नहीं थे, वरन् केवल ज्ञान रूप अन्तरंग लक्ष्मी के स्वामी थे। वह अपने युग के अद्वितीय लोकोत्तर पुरुष थे। भगवान् अजन्मा थे, । अर्थात उन्हें पुनः जन्म लेने की आवश्यकता नहीं थी। वह चरम भव में वर्त्तमान थे। सब प्रकार के रोग-शोक से रहित थे।

भगवान् महावीर का जीवन अद्भुत था। यद्यपि तीर्थंकरों के जीवन में बहुत-सी समानताएं होती हैं, तथापि महावीर स्वामी के जीवन में अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा कुछ अनूठापन था यद्यपि समग्र जीवन बहत्तर वर्ष का ही था और तपस्याकाल साढ़े बारह वर्ष का, तथापि इस छोटे-से काल में, उन्हें अत्यन्त कठोर परिषह सहने पड़े थे। देव मनुष्य, और तिर्यंच कृत उपसर्गों की भयंकरता हृदय को हिला देने वाली थी। भगवान् ने अत्यन्त शान्तभाव से सब उपसर्गों को सहन करके कर्मों का ऋण समाप्त किया। अन्य तीर्थंकरों को इतना कष्ट नहीं सहना पड़ा। भगवान् का धैर्य, समभाव और पुरुपार्थ हमारे लिए महान्

आदर्श है। भगवान् का वह जीवन हमारे सामने रहेगा तो हम में भी वही धैर्य और पुरुषार्थ प्रकट होगा।

समवायांगसूत्र—

अब शास्त्रीय विषय आपके समक्ष उपस्थित किया जारहा है। कल एक-एक बोल में आने वाले विषयों को बतलाया था, आज दो-दो संख्या वाले तत्वों पर किंचित प्रकाश डालता हूँ।

सर्व प्रथम बतलाया गया है कि दंड दो प्रकार के हैं अर्थ दण्ड और अनर्थदंड।

पहले यह जानना आवश्यक है कि दंड किसे कहते हैं। जिसके द्वारा प्राणों का हनन हो अर्थात प्राणियों का शरीर से वियोग हो अथवा उन्हें पीड़ा पहुंचे, वह दंड कहलाता है। किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए, अपने या अपने परिवार के स्वार्थ लाभ के लिए जीवघात करना अर्थदण्ड है। इसके विपरीत, बिना किसी प्रयोजन के, व्यर्थ ही जीवों का उपमर्दन करना अनर्थदण्ड है। जैसे राह चलते किसी पेड़ या झाड़ी के पत्तों को बिना प्रयोजन नोंचना, तोड़ना और फेंक देना। अथवा किसी जलाशय के किनारे बैठकर बेमतलब उसमें पत्थर फेंकना, सचित्त भूमि को कीला आदि से कुरेदना। यह सब निरर्थक हिंसा व्यापार अनर्थदण्ड कहलाता है। उचित तो यह है कि सभी प्रकार के दंड-जीववध से बचा जाय, फिर भी कम से कम अनर्थदण्ड से तो सहज ही बचा जा सकता है और बचना ही चाहिये। यह श्रावक के लिए आवश्यक है।

इसके बाद बतलाया गया है-संसार में दो ही राशियां हैं जीवराशि और अजीवराशि।

राशि का अर्थ है—ओघ, समूह या समुदाय। बहुत-से व्यक्तियों का, किसी सदृश धर्म के आधार पर किया हुआ एकीकरण राशि या समूह है। चैतन्य धर्म के आधार पर समस्त जीवों को एक रूप माना जाता है और जड़ता धर्म के आधार से समस्त अजीवों की एक राशि है। जीव और अजीव के अतिरिक्त विश्व में तीसरी कोई वस्तु नहीं है। अतएव राशियां दो ही हैं। पच्चीस बोल के थोकड़े के इक्कीसवें बोल में यह बात सिखाई जाती है। यद्यपि जीवों के ५६३ भेद बतलाये गये हैं और अजीव ५६० प्रकार के भी कहे गये हैं, परन्तु उनकी राशियां तो दो ही हैं।

आत्मा के साथ होने वाला कर्मबन्धन दो प्रकार का है रागबन्धन और द्वेषबन्धन माया और और लोभ रूप कषाय के निमित्त से रागबन्धन होता है और क्रोध तथा मान कषाय से द्वेषबन्धन होता है।

राग का साधारणतया अर्थ है—ममता। स्त्री, पुत्र, पिता, माता आदि सचित्त वस्तुओं के प्रति तथा कोठी बंगला, सोना, चांदी आदि अचित्त वस्तुओं के प्रति आसक्ति होना राग है। इस राग के कारण होने वाला कर्मबन्ध रागबन्धन कहलाता है।

ईर्षा, द्वेष, क्रोध, अहंकार आदि भावना से जो कर्मबन्ध होता है, वह द्वेषबन्धन कहलाता है।

भाइयो ! क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय ही संसार के मूल और प्रधान कारण हैं। इन्हीं से भव भ्रमण की वृद्धि होती है। संसार के सभी प्राणी रागद्वेष के वशीभूत हो रहे हैं और अपनी आत्मा का अहित कर रहे हैं जितने-जितने अंशों में रागद्वेष की न्यूनता होती जाती है, उतने ही उतने अंशो में शान्ति, निराकुलता और सुख की वृद्धि होती है। ज्ञानी जनों का सर्वसम्मत निर्णय है कि —जब तक तेरी आत्मा में राग-द्वेष हैं तब तक बन्धन अवश्यंभावी है और जब तक बन्धन है, तब तक मोक्ष प्राप्त होने वाला नहीं है।

राग द्वेष संसार के मूल हैं। जब मूल को काट दिया जाता है तो वृक्ष खड़ा नहीं रह सकता। फिर संसार शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। संसारी जीव मूल को रोपना तो जानते हैं, मगर उखाड़ना नहीं जानते। धन्य हैं, वे महापुरुष, जिन्होंने राग-द्वेष रूप मूल को ही उखाड़ कर फेंक दिया है। तीर्थंकर भगवन्तों ने कषाय-मूल को उखाड़ा और मोक्ष में विराजमान हो गए। वे वहां सच्चे सुख का अनुभव कर रहे हैं। उन्हीं भगवन्तों ने फर्माया है कि जहां बन्ध है वहां दुःख है और जहां अबन्धदशा है वहीं आत्मानन्द है।

पीजरा भले सोने का ही क्यों न हो, तथापि उसमें बंद तोता सुख का अनुभव नहीं करता। उसे पानी पीने के लिए रत्न की कटोरी हो और खाने को मेवा और फल हों, फिर भी तोता आनन्द का अनुभव नहीं करता। वह तो दिल में यही कहता है— मेरी आजादी लुट गई है सुख के सब सामान स्वाधीनता के अभाव में दुःख रूप हैं। यहां मेरा दिल घुटा जाता है। मगर आजाद

अवस्था में यह सब साधन न मिलें तो भी मुझे दुःख का अनुभव नहीं होगा।

इसी प्रकार संसारी जीव भी कर्मबन्धन में बन्धकर दुखी होता है। परन्तु मोह उसकी चेतना को इस तरह सुप्त बना देता है कि वह मुक्त होने का प्रयत्न नहीं करता। अतएव ज्ञानी पुरुष कहते हैं—अरे जीव! बहुत-बहुत काल बीत गया है इस आत्मा को बन्धन में बन्धे हुए, अब तो सावधान हो। पुण्ययोग से मनुष्य-भव, आर्य कुल, आर्य क्षेत्र और दूसरे प्रकार की अनुकूलताएँ मिली हैं। इनको सार्थक कर ले। देख, तुझे परिपूर्ण पांचों इन्द्रियां मिली हैं, वीतरागप्ररूपित धर्म श्रवण करने का शौभाग्य मिला है। अब केवल पराक्रम करने की ही आवश्यकता है। पराक्रम कर ले तो सदा के लिए सब प्रकार के दुःखों का अन्त कर सकता है! सिद्धि प्राप्त कर सकता है। इस आत्मा को सच्चा सुख तो केवल सिद्ध अवस्था में ही प्राप्त होता है।

आत्मा अनादि काल से मिथ्यात्व की ओर पुरुषार्थ करता आ रहा है। इसने सम्यक्त्व के लिए पुरुषार्थ नहीं किया है। जो वस्तुएँ साथ में आई नहीं और साथ में जाएँगी नहीं, उनके लिए घोर प्रयत्न किया जा रहा है। उनके लिए बहुमूल्य जीवन समर्पित हो रहा है और आगे के लिए पाप की पोटली बांधी जा रही है, मगर आत्मा की जो निजी और नैसर्गिक सम्पत्ति है, और जिसके सामने विश्व का समस्त वैभव नगण्य है, उसकी प्राप्ति के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं हो रहा है। क्षणविनश्वर और आत्मा को मलीन बनाने वाली वस्तुओं में रागभाव धारण जीव अपना अमंगल कर रहा है। इस तथ्य को समझ कर यह जीव अगर

अब भी सम्यक्त्व में पुरुषार्थ करने लगेगा तो बन्धन टूट जाएँगे और स्वाधीन होकर अनन्त सुख प्राप्त कर सकेगा।

बन्धनविहीन बनने के लिए अठारह ही प्रकार के पापों का परित्याग करना पड़ेगा और निष्कामभाव से तपस्या की आराधना करनी पड़ेगी। इससे नवीन कर्मों का आस्रव रुकेगा और पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय हो जाएगा।

यहां बन्धन के मूल भेद दो ही बतलाये गये हैं, पर इनकी शाखा-प्रशाखाएँ अनेक हैं। कोई जाति के बन्धन से बन्धे हैं, किसी-किसी को वेष का बंधन है, कोई सिद्धान्त के बन्धनों से जकड़ा हुआ है और किसी को मत एवं पन्थ के बन्धनों ने बांध रक्खा है। स्वर्गीय पूज्य खूबचन्द्रजी महाराज कहा करते थे कि मनुष्य जाति के बन्धन में बंधा हुआ अपने को श्रेष्ठ और दूसरे को नीच समझता है। मगर उसे यह विचार नहीं होता कि आत्मा-आत्मा सब समान हैं। मनुष्य गर्व के साथ कहता है—अजी, मैं ऐसा हूं और वह ऐसा या वैसा है। इस प्रकार जाति के बन्धन में बंधा हुआ मनुष्य भी सत्य को समझने में भूल कर बैठता है।

इसी प्रकार मत-पन्थों के बन्धन भी मनुष्य को सत्य तक नहीं पहुंचने देते।

भाइयो! शराब का नशा तो २४ घण्टों में उतर जाता है परन्तु मत का नशा बड़ी मुश्किल से उतरता है और कभी कभी तो जीवन पर्यन्त नहीं उतरता। एक मत में बंधा हुआ व्यक्ति दूसरे पर झूठा दोषारोपण लगाते भी संकोच नहीं करता है।

तो ज्ञानी जनों का कथन है कि आत्मा अनादि काल से इन बन्धनों में बधी हुई है और अपना अहित करती जा रही है। अतएव हे साधक ? भूतकाल का सोच मत कर। गया सो गया। वर्त्तमान को सँभाल। वर्त्तमान को सुधार लेगा तो निश्चित रूप से तेरा भविष्य उज्जवल बन जाएगा।

कोई विरल पुण्यशील आत्मा ही मानव जीवन का मूल्यांकन करके कर्म बन्धनों को तोड़ने का पुरुषार्थ करती है। बाकी तो सभी मकड़ी की तरह जाल बनाकर उसमें फंसी रहती हैं। मकड़ी अपने मुँह से तार निकाल कर जाल बनाती है और अन्त में वह स्वयं ही अपने बनाये जालमें फंस जाती है और प्राण गँमा देती है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य भी पापों का जाल रचता है और उसी में फँस कर प्राण समाप्त कर देता है। मगर विवेक वानों के लिए यह शोभा नहीं देता। उन्हें तो वास्तविकता का विचार करना चाहिए और आत्मिक सुख के लिए यत्नशील होना चाहिए। निराश होने की कोई बात नहीं है। जिसने जाल बनाया है, वह उसे तोड़ भी सकता है। शास्त्र में कहा है—

अप्पा कत्ता विकत्ताय, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय- सुपट्ठिओ ॥

—उत्तराध्ययन, अ. २०, गा. ३७

भगवान् फर्माते हैं–ऐ मानव ! पाप कर्म करने वाली तेरी ही आत्मा है और उन्हें नष्ट करने वाली भी यही आत्मा है, आत्मा स्वयं ही अपने सुखों और दुःखों का निर्माण करती है। अतएव तू स्वयं अपना मित्र है और स्वयं अपना शत्रु है, अपनी

भलाई-बुराई का उत्तरदायित्व स्वयं तेरे ऊपर है। अगर तू धर्म के मार्ग पर चले तो अपना हित कर सकेगा अधर्म के मार्ग पर चलेगा तो अहित कर लेगा। सब तेरी मुट्ठी में है।

उत्तराध्ययन सूत्र में, बीसवें अध्याय की ४८ वीं गाथा में कहा गया है—

न तं अरी कंठछेत्ता करेई,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पया।
से नाहिइ मच्चुमुहं तु पत्ते,
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो॥

भगवान् फर्माते हैं-घोर से घोर शत्रु अधिक से अधिक हानि पहुँचाएगा तो जान से मार देगा-मौत के घाट उतार देगा इससे अधिक वह और कुछ नहीं बिगाड़ सकता। मगर पापों के पथ में प्रवृत्त होने वाली यह आत्मा तो अपना इतना अहित कर डालती है कि जिसकी कोई सीमा नहीं। यह एक ही भव में ऐसा दुराचरण कर बैठती है कि न मालूम कितनी बार उसे जन्म मरण की वेदनाएं भोगनी पड़ती हैं। आज दृष्टि पर अज्ञान का पर्दा पड़ा है। कुछ सूझता नहीं है। मगर पाप जब उदय में आएंगे तो ऐसा पश्चात्ताप करना पड़ेगा कि जिसकी हद नहीं। जब जीवन का अन्त सन्निकट होगा और कृत पाप सामने आएंगे तो कहेगा-हाय मैंने जीवन में बहुत दुष्कर्म किये हैं आगे मेरा क्या हाल होगा? अरे, यह बंगले, यह कोठी, यह कार, यह धन से भरी हुई तिजोरियां, सब रही पड़ जाएंगी। मगर इनके लिये

किये हुए पाप साथ जाएंगे और मुझको ही भुगतने पड़ेंगे। मैंने छोटी-सी जिंदगी में बहुतों के साथ दुश्मनी की है यह सब साधन यहीं के यहीं रह जाएंगे और आत्मा को एकाकी ही परलोक की ओर प्रयाण करना पड़ेगा। कोई मेरा साथ देने वाला नहीं है?

भाइयों? सभी कहते हैं कि हम अपने स्वजन की सेवा कर रहे हैं, परन्तु मरने वाले के साथ कोई नहीं मरता। उसे दुर्गति में जाने से और वहां दुःख भोगने से कोई नहीं रोक सकता। अगर मोहान्ध होकर कोई किसी के साथ मर भी जाए तो भी एक ही जगह दोनों का जन्म नहीं होता। उन्हें अपने अपने कर्मानुसार गति मिलती है। फिर इस प्रकार का मरना मोह का मरना कहलाता है। इस मरण से संसार घटता नहीं, बढ़ता ही है।

तो ज्ञानी कहते हैं-जितना ख्याल तुझे अपने दुश्मन का रहता है, उससे भी अधिक ख्याल अन्दर में रही हुई आत्मा का रहना चाहिए। अन्दर छिपा हुआ आत्मा मन वचन काय द्वारा जो दुराचरण कर रहा है, उसका तुझे ख्याल ही नहीं है। यही तो तेरे समस्त दुःखों का बीज है। अपने जीवन में सुन्दर विचार और सुन्दर व्यवहार करने का प्रयत्न करो और अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाओ, यह भावना रक्खो—

कोई बुरा कहे या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे।
लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आजावे॥

'मेरी भावना' में सुन्दर विचारों का संचयन किया गया है, मगर उन विचारों को जब जीवन में मूर्त्त रूप दिया जायगा

तभी कुछ लाभ हो सकता है, अन्यथा कुछ भी बनने वाला नहीं है।

सच्चा साधक भगवान् से यही प्रार्थना करता है-भगवन्! संसार में रहते हुए मुझे कोई अच्छा कहे या बुरा, लक्ष्मी प्राप्ति हो या गांठ की चली जाय, मैं लाखों वर्षों तक जीवित रहूँ या आज और इसी क्षण मौत के मुँह में चला जाऊँ, मुझे इसकी चिन्ता नहीं, मेरी एक मात्र कामना यह है कि न्यायमार्ग से मेरा पैर कभी न फिसले! जीवन में मुझसे कोई अन्याय नहीं होना चाहिए।

मगर आज क्या स्थिति है? न्याय का मार्ग किधर जा रहा है और हम किधर जा रहे हैं? तो केवल पाठ पढ़ लेने मात्र से कुछ लाभ होने वाला नहीं है। अतएव अपने जीवन में सदाचार को स्थान दो, जिससे अन्त समय पश्चाताप न करना पड़े।

मृत्यु अवश्यंभावी है, इसमें आपको भी सन्देह नहीं हो सकता। अतएव उसके आने से पहले ही शुभ कृत्य कर लो, एक दिन गया, सात दिन गये, महीना पूरा हो गया, वर्ष बीत गया, यह सब क्या है? यह जीवन इसी क्रम से मौत के निकट पहुँचता जा रहा है ऐसी स्थिति में भी जो आत्महित का कार्य नहीं करता, वही अपना शत्रु है और अपने आपको दुःखों के गड्ढे में गिराने का प्रयत्न कर रहा है।

अरे पामर प्राणी! तू कहता है-यह मेरा दुश्मन है और यह मेरी हानि कर रहा है। परन्तु ऐसा विचार करना सरासर भूल है। असल में तेरे पूर्वकृत कर्म ही तुझे हानि पहुँचाते हैं;

दूसरा कोई निमित्त बन जाता है. जो निमित्त बनता है उस पर द्वेष करके तू व्यर्थ पुनः दुःखों की सृष्टि करता है। अतएव अपनी हानि के लिए अपने को ही उत्तरदायी समझ और समभाव धारण कर, यही तेरे लिए हितकर है, अगर तेरी कामना है कि कोई तेरा शत्रु न हो तो शास्त्र में शत्रुओं को जीतने का तरीका भी बतलाया है, उसे काम में ला—

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में बतलाया गया है कि जब भगवान् केशी स्वामी और गौतम स्वामी का समागम हुआ तो दोनों का तात्त्विक संवाद हुआ, प्रश्न पूछा गया-आपने शत्रुओं पर कैसे विजय प्राप्त की है ? उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं-मैंने सर्वप्रथम एक को जीता है और एक को जीत लेने से पांच को जीत लिया है। जब पांच को जीत लिया तो दस जीत लिये गए और दस को जीत लेने से समस्त शत्रुओं पर मुझे विजय प्राप्त हो गई है।

भाइयो ! दोनों महापुरुषों के प्रश्नोत्तरों को सुनने के लिए वहां बहुत बड़ा मानवों और देवों का समूह इकट्ठा हुआ था। यह गूढ़ तत्त्व उनकी समझ में नहीं आया। तब पूछा गया कि आपके कथन का स्फुट आशय क्या है ? तब बतलाया गया कि जिसने एक अर्थात् मन को जीत लिया, समझ लीजिए कि उसने पांचों इन्द्रियों को जीत लिया। इन पांच को जीत लेने पर आत्मा दस

पर-५ इन्द्रियों, ४ कषायों और मन पर-विजय पा लेता है। इतनी विजय प्राप्त कर लेने पर कोई शत्रु ही नहीं रह जाता।

हम दूसरों को अपना शत्रु समझते हैं, परन्तु असली शत्रु तो हमारे भीतर ही छिपे हुए हैं। लोगों को जितना डर सांप से लगता है उतना पाप से नहीं लगता। मगर विषैला सांप तो इन्सान को एक ही बार मार सकता है, परन्तु पाप रूपी सांप तो बार-बार मारते हैं। इसलिए ज्ञानियों का कथन है कि-हे मानव! तुझे पापकर्म करते अनन्त काल हो गया है। अब भी यदि अपने घर में आ जाएगा और राग द्वेष के बन्धनों को तोड़ने का प्रयत्न करेगा तो बन्धन विजेता बन जाएगा।

पूज्य खूबचन्दजी म० ने संसारी जीवों को उद्बोधन करते हुए कहा है—

क्यों सूतो होय अचेत; जग लूट पाएगा ॥ टेर ॥
यह सब ठाठ रैन-सपने का, पलक उघर छुट जाएगा।
छोड़ सराय मुसाफिर ज्यों, बिन टेम कभी उठ जायगा ॥१॥

भाइयो! राग द्वेष रूप बंधन के कारण आत्मा मोहनिद्रा में मग्न हो रहा है। मगर अब कहां तक सोते रहोगे? अब मोह-निद्रा को त्यागो, जागो और अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाओ। संसार के ये सब ठाठ रात्रि के सपने के समान नष्ट हो जाने वाले हैं। कोई कंगला स्वप्न में देखता है कि उसकी सगाई हो गई, विवाह हो गया और छोकरा-छोकरी भी हो गए। यह परिस्थिति देख कर स्वप्न में उसके आनन्द का पार नहीं है; परन्तु उसका यह आनन्द कितनी देर टिकने वाला है? आप जानते

हैं कि जब तक उसकी निद्रा नहीं टूटी, तब तक ही वह खुश हो रहा है। निद्रा टूटते ही सारी खुशी मिट्टी में मिल जाती है और उसके विषाद की सीमा नहीं रहती।

आपने किसी बड़े नगर के स्टेशन के मुसाफिरखाने को तो देखा ही होगा। गाड़ियां आने से पहले वहां कितनी भीड़ होती है? मगर ज्यों ही गाड़ी आई और मुसाफिर उसमें बैठ कर चल देते हैं। ठीक इसी प्रकार यह जीव भी मुसाफिरखाने में आया हुआ है और यहां आकर मुहब्बत की जंजीरों में जकड़ गया है। मगर जब गाड़ी आएगी तो ये जंजीरें इस मुसाफिर को रोक नहीं सकेंगी। उसे बलात जाना होगा। सब प्रेमी यहीं बिलखते रह जाएँगे।

जब थोड़े समय तक ही यहां ठहरना है तो जीवन में क्या करना चाहिए?

थोड़ा-सा जीतब के ख़ातिर; जो तू ज़ुलम कमायगा।
आम स्वाद के काज राज तज, दियो जेम पछतायगा ॥२॥

हे मानव! यह जीवन तुझे थोड़े समय के लिए मिला है। अगर इस जीवन में तू पाप करेगा तो वही पाप तुझे खा जाएगा। क्योंकि नीतिकार कहते हैं—

पाप की कृति कभी फलती नहीं।
नाव कागज की कभी तिरती नहीं॥

जैसे कागज की नाव तिर नहीं सकती और कागज़ के फूल कभी खिल नहीं सकते, उसी प्रकार यह पाप भी कभी खिलने

इस बात को समझाने के लिए दृष्टान्त दिया गया है—किसी राजा के शरीर में आम खाने से बीमारी उत्पन्न हो गई। इलाज के लिए राजवैद्य को बुलवाया गया। वैद्य ने नाड़ी-परीक्षा करके कहा—महाराज! आपको आम खाने से यह रोग हुआ है। आप आम नहीं खाएँगे तो अच्छे हो जाएँगे। खा लेंगे तो जीवित नहीं रहेंगे। अगर आप जिंदा रहना चाहते हैं तो आम खाना छोड़ दीजिए।

राजा ने वैद्य की सलाह मान कर आम खाना छोड़ दिया। बहुत दिन बीत गए। बीमारी मिट गई। परन्तु एक दिन राजा, मन्त्री के साथ घूमने गया और घूमता-घूमता, बगीचे में आम की सघन छाया में बैठ गया। संयोगवशात् एक पका हुआ पीला आम्रफल राजा के पास आ गिरा।

राजा ने आम्रफल हाथ में ले लिया और सोचा—बहुत दिन हो गए हैं। अब मेरे शरीर में बीमारी भी नहीं रही है। अगर इसे खा लूं तो कोई हानि होने की संभावना नहीं है। ऐसा सोच कर राजा फल खाना ही चाहता था कि मन्त्री ने कहा—महाराज! वैद्य ने आम खाने की सख्त मनाई कर दी है। इसे खाने से पुनः रोग उभर आने की सम्भावना है। अतएव आप इसे रहने ही दीजिए।

न खाना, परन्तु आपने बात मानी नहीं। इस बार चिकित्सा सफल नहीं हो सकती।

बीमारी बढ़ती गई और राजा की वेदना भी बढती गई, पश्चात्ताप भी बढ़ता गया, वह सोचता-हाय, मैंने वैद्य और मन्त्री का कहा न माना, उसी का यह दुष्परिणाम है कि मुझे प्राणों से हाथ धोने पड़ेंगे।

अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य महापुरुषों की वाणी के अनुसार आचरण नहीं करते हैं और अपना जीवन पापकर्मों में व्यतीत करते हैं, उन्हें भी अन्तिम समय में राजा की तरह पश्चात्ताप करना पड़ता है।

कवि आगे कहते हैं—

दुनियां तो सब है मतलब की, जो इनमें ललचाएगा।
तेरा किया तू भुगतेगा, जब कोई काम नहीं आएगा॥ ३॥

अरे मानव! तू जिस दुनियां में रह रहा है और जिन लोगों से गाढ़ा सम्बन्ध बांधे हुए हैं, जिनके अन्दर एकरंग हो रहा है और समझ रहा है कि मैं इनका हूं और ये मेरे हैं, उनमें से कोई तेरा सहायक होने वाला नहीं है, तूने स्व-पर के लिए जो कर्म किये हैं, उन कर्मों का फल भोगने का जब समय आएगा तो तेरे कर्मों का फल तुझे ही भोगना पड़ेगा। जिनके लिए पाप किये हैं, वे दूर ही रह जाएँगे। अतएव भविष्य में दुःखों का सामना न करना पड़े, इसके लिए, हे जीव! तू पहले ही सावधान हो जा।

मनुष्य को चेतावनी देते हुए कवि फिर कहते हैं—

जो जो वक्त अमोलक तेरा, गया न पीछे आएगा।
दया धर्म बिन अहो मानव तू, भव-भव गोता खाएगा ॥ ४ ॥

भाइयों। यह जो अनमोल समय मिला है बार-बार मिलने वाला नहीं है, यह समय बहुत कीमती है। यह व्यर्थ चला गया तो फिर लौटकर आने वाला नहीं है। नीतिकार कहते हैं कि गया हुआ पानी, मुँह से निकला हुआ वचन और कमान से छूटा हुआ तीर वापिस लौटकर आने वाले नहीं हैं। अरे, गया हुआ धन तो उपाय करने पर फिर भी मिल सकता है, किन्तु जीवन के गए हुए क्षण वापिस आने वाले नहीं हैं।

अगर तूने मनुष्य जीवन प्राप्त करके भी श्रेष्ठ कार्य नहीं किये, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, नम्रता, क्षमा, और संतोष आदि गुणों को नहीं अपनाया और पापाचार में ही फँसा रहा तो तेरा भविष्य अत्यन्त अन्धकारमय हो जायगा। तेरी आत्मा जब परलोक में जाएगी तो कोई सहायक नहीं मिलेगा। यह स्वार्थी संसार यहीं रह जायगा और तेरी आत्मा अकेली ही दुःख भोगने के लिए प्रयाण करेगी।

भाइयों! नरक में दस प्रकार की तीव्रतर वेदनाएँ होती हैं। ऐसी वेदनएँ जिनकी आप ठीक तरह से कल्पना भी नहीं कर सकते, और वह वेदनाएँ कितने लम्बे काल तक चालू रहती हैं। अङ्कों में वर्षों का हिसाब भी नहीं लगाया जा सकता, यहां सौ वर्ष की जिंदगी थी, मगर अत्यासक्ति के कारण नरक में तेतीस सागरोपम की आयु बांध ली! अल्पकालीन जीवन के लिए दीर्घातिदीर्घ काल तक दुस्सह व्यथाएँ भोगना क्या बुद्धिमित्ता है?

कवि महोदय आगे की पंक्तियों में हितशिक्षा देते हुए भव्य जीवों से कहते हैं—

मेरे गुरु नन्दलाल मुनि, वैराग्य झड़ी बरसाएगा।
करी जोड़ अजमेर शहर, सब मिथ्या भ्रम मिट जाएगा॥ ५॥

उक्त कविता स्व० पूज्य खूबचन्दजी महाराज द्वारा रची गई है। उन्होंने अन्त में अपने गुरु महाराज के विषय में प्रशंसा करते हुए कहा है-गुरु का उपदेश सुनने वालों के मन में वैराग्य भावना उत्पन्न कर देता है। जिसने ध्यानपूर्वक, आदर के साथ गुरु की वाणी सुन ली, वह सत्यासत्य का विवेक प्राप्त कर लेता है। सत्य को सत्य और असत्य को असत्य समझने लगता है, मानव के मन में जब सत्य तत्त्व की समझ आ जाती है तब वह पर-पदार्थों के विषय में ममत्व भावना त्याग देता है। वह भली-भांति समझ लेता है कि यह शरीर भी मेरा नहीं है तो अन्य पदार्थ मेरे हो ही कैसे सकते हैं?

यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्द्धं,
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः?

शरीर के साथ भी जिसकी एकता नहीं है, उसकी पुत्र, कलत्र और मित्र के साथ एकता किस प्रकार सम्भव है? हिन्दी के एक कवि ने कहा है—

कंचन के थालन, बासन सब कंचन के,
कंचन के पलंग सब पड़े रह जाएँगे।
हाथी हथसालन में घोड़े घुड़सालन में,
कपड़े जामदानों में पड़े बंद रह जाएँगे।
पैसा और टके कुछ दौलत का पार नहीं,
जवाहरात के डिब्बे के ताले जड़े रह जाएँगे।
नेकी और बदी संग चलेगा मनीराम,
कुल के कुटुम्बी यों ही रोते रह जाएँगे।

हे मानव! मेरा मेरा कह कर क्यों वृथा अभिमान कर रहा है? संसार के सब पदार्थ यहीं पड़े रह जाने वाले हैं। ये सोने और जवाहरात के आभूषण, बंगला, कोठी, जमीन-जायदाद वगैरह सब यहीं रह जाएंगे। दिल्ली के बादशाह के ताज में बेशकीमती हीरे जड़े थे मगर एक दिन वह भी आया जब वह ताज तो यहीं रह गया और ताज वाला दुनियां से कूच कर गया। वह तख्त-ताऊस, जिस पर बैठ कर बादशाह फूला नहीं समाता था, यहीं रह गया और बादशाह सलामत को खाली हाथ चल देना पड़ा।

भाइयों ! मैंने कुछ समय पहले पढ़ा था कि हैदराबाद के नवाब साहब के दस दर्जन सन्तान हैं। मगर जब समय आया तो कौन आड़े आया और कौन उनकी गद्दी सुरक्षित रख सका ?

आशय यह है कि भौतिक पदार्थ मनुष्य की कुछ भी वास्तविक सहायता नहीं कर सकते। हां, यदि मनुष्य के साथ परलोक में कुछ जाने वाला है तो वह है उसका पुण्य और पाप। अच्छाई और बुराई साथ जाएगी। शेष जो है वह सब यहीं रह जाने वाला है।

स्व० गुरुदेव चौथमलजी म० ने एक भजन में हित-शिक्षा देते हुए कहा है—

ले संग खर्ची रे,
परभव की खर्ची लीधा सरसी रे ॥ टेर ॥
घर की नारी हांडो फोड़ ने, पाछी घर में चल सी रे।
मसाण भूमि में छोड़ थने फिर कुटुम्ब विछुड़सी रे ॥१॥

जिसे तू हाथ पकड़ कर लाया है और जिसे प्राणों से प्यारी मान रहा है, एक समय आएगा कि तू चल बसेगा और वह चूड़ा फोड़ कर घर में वापिस आ जाएगी। परिवार के दूसरे लोग श्मशानभूमि तक जाएँगे और जला कर वापिस आ जाएँगे।

इस प्रकार का व्यवहार दुनियां में दिखाई दे रहा है। इस व्यवहार को प्रत्यक्ष देखते हुए भी यह जीव निश्चिन्त हो रहा है, यह कितने खेद और आश्चर्य की बात है ? मनुष्य को धर्म की आराधना करने का अवकाश ही नहीं मिल रहा है। हे मानव !

अब भी समय है, इस समय का सदुपयोग करले और जीवन को सफल बना ले। जो समय चला गया है, उसकी चिन्ता मत कर। जो शेष है उसमें ही अगर धर्म कर लेगा और जीवन को पवित्र बना लेगा तो तेरा बेड़ा पार हो जायगा। मगर यह समझ ले कि बड़ा ही कीमती समय चला जा रहा है। यह वापिस लौट कर आने वाला नहीं है। अगर तू अपने साथ धर्म रूपी खर्ची ले लेगा तो परलोक में दुःखी नहीं होना पड़ेगा। वहां आराम से जीवन गुजार सकेगा।

वीरसेन-अमरसेन चरित—

बतलाया जा चुका है कि दोनों बालकों ने उत्साह की अवस्था में मुनिराज को पवित्र भाव से आहारदान देकर संसार परीत किया। आज आपको बतलाऊँगा कि वे दोनों यथा समय काल करके कहां उत्पन्न हुए?

चिन्ता चिता से अधिक है, घुन के समान लग जाती है।
मुर्दे को चिता जिलाती है, चिंता जीते को खाती है॥

भाइयो! लकड़ी में लगा हुआ घुन उसे खा-खा कर निःसत्व कर देता है, उसी प्रकार जिस मनुष्य के हृदय में चिन्ता-पिशाची घुस जाती है, वह मुर्दे के समान निस्तेज और अशक्त बन जाता है। चिता तो मृतक को ही जलाती है किन्तु चिन्ता-पिशाची जीवित को भस्म कर डालती है।

एक दिन राजा ने रानी को अत्यन्त चिन्ताग्रस्त देखकर पूछा-तुम्हें किस चीज की चिन्ता है? तुम्हारा फूल-सा कोमल शरीर मुरझा गया है। चेहरे पर तनिक भी प्रसन्नता नहीं देखता यद्यपि इतना साहस किसी में हो नहीं सकता, तथापि अगर किसी ने कुछ अपमान किया हो तो बतलाओ। अन्य कोई कारण हो तो वह कहो। तुम्हारी चिन्ता दूर करने का कोई उपाय उठा नहीं रक्खूँगा।

रानी ने कुछ-कुछ लजाते हुए कहा—प्राणनाथ! आपके रहते कौन मेरा अपमान कर सकता है? किसी वस्तु की कमी भी नहीं है। फिर भी अपनी गोद सूनी देख कर मैं दुखित रहती हूँ। इसी कारण मेरा शरीर कृश और दुर्बल दिखाई देता है।

राजा ने कहा—बस, इतनी-सी बात के लिए इतनी बहुत चिन्ता कर रही हो! अगर सन्तान का योग होगा तो अवश्य प्राप्त होगी। चिन्ता करने से क्या लाभ है? मैं राजज्योतिषियों को बुलवा कर आज ही इसका निर्णय कर लूँगा।

इस प्रकार महारानी को सान्त्वना देकर राजा दरबार में आया। उसी समय उसने ज्योतिषियों को बुलाने का आदेश दिया। ज्योतिषी आये। राजा ने उनका यथोचित आदर-सत्कार किया और आसन पर बैठने का आमन्त्रण किया। उनके आसन ग्रहण कर लेने के पश्चात् हाथ में फल-फूल लेकर राजा ने निवेदन किया—पंडितो! आप अपने शास्त्रों में देखकर बतलाइए कि मेरा और महारानी का भविष्य कैसा है?

ज्योतिषियों ने उसी समय कुण्डली बनाई और उसके बारह खानों की ओर देखकर विचार करने लगे कि इस समय कैसा लग्न है?

पंडित कुण्डली बनाने में संलग्न थे और राजा अतीव उत्सुकता के साथ फलादेश की प्रतीक्षा कर रहा था। जब पंडितों ने निर्णय कर लिया तो वे बोले—यह [illegible] है। महारानीजी को सन्तान का शुभ लक्षण है और ग्रहों के अनुसार यह सौभाग्यपूर्ण होगी। महारानीजी के एक ही साथ दो पुत्र होंगे। मगर इन पर दो शत्रु और मित्र की दृष्टि पड़ रही है। अतएव जन्म समय के पश्चात् ही दोनों बालकों को मातृवियोग सहना होगा और वियोग के बाद इन्हें माता की प्राप्ति होगी। महाराज! यह सब ग्रह बतला रहे हैं। इससे ज्ञात होता है कि दोनों कुमार [illegible] और [illegible] में [illegible] होंगे।

जन्म के उपलक्ष्य में बड़ी धूमधाम के साथ उत्सव मनाया गरीबों को मुक्त हस्त से दान दिया, नगर-निवासियों ने भी हर्षित होकर राजकुमारों के जन्म की खुशी मनाई, कारागार के द्वार खोल दिये गये, नगर-निवासियों को मिष्टान्न जिमाया गया।

दोनों राजकुमार सुखपूर्वक, महारानी का हार्दिक असीम दुलार पाते हुए, बढ़ने लगे राजमहल मानों गुलजार हो गया। अन्तःपुर में जैसे प्राणों की प्रतिष्ठा हो गई, महारानी समझने लगी कि उनका जीवन सफल हो गया, नारी जीवन की धन्यता उसके मातृत्व में मानी जाती है।

दिन पर दिन बीतने लगे, किस प्रकार ज्योतिषियों के कथनानुसार राजकुमारों को माता का वियोग होता है और किस प्रकार उन्हें नगर छोड़ना पड़ता है और आगे-आगे क्या घटनाएँ घटित होती हैं, यह सब आगे सुनने से ज्ञात होगा।

तो जो भव्य जीव सुपात्र को श्रद्धा-भक्ति के साथ दान देगें, वे इह-परलोक में सुख के पात्र बनेंगे और बन्धन रहित बन जाएँगे।

ता० १३-६-५६
केन्टोनमेन्ट बैंगलोर

शल्य-निरसन



प्रार्थना।

यदीया वाग्गंगा विविधनयकल्लोलविमला,
बृहज्ज्ञानाम्भोभि-र्जगति जनता या स्नपयति।
इदानीमप्येषा बुधजनमरालैः परिचिता,
महावीर स्वामी नयनपथगामी भवतु मे॥

卐卐

आजकल भी वृद्ध मुनिराज व्याख्यान प्रारम्भ करने से पहले मंगलाचरण के रूप में भगवद्वाणी की जो स्तुति करते हैं, उसमें उसे गंगा की ही उपमा दी जाती है, कहा जाता है—

वीर-हिमाचल तें निकसी,
गुरु गौतम के श्रुति कुंड ढरी है।

जैसे गंगा नामक महानदी हिमवान पर्वत से निकल कर गंगाप्रपात कुंड में गिरती है और आगे बढ़ती है, उसी प्रकार यह वाणी भी भगवान् महावीर रुपी हिमाचल से निकलकर गौतम स्वामी के श्रुति अर्थात् कर्ण रुपी कुण्ड में पहुँचती है और फिर आगे बढ़ती है अर्थात् शिष्य-प्रशिष्य परम्परा को प्राप्त होती है।

गंगा में स्नान करके लोग अपने आपको पवित्र मानते हैं, मगर वह पवित्रता केवल व्यावहारिक है, काल्पनिक है; किन्तु तीर्थंकर भगवान् की वाणी रूपी गंगा में स्नान करने वाले पवित्र हो जाते हैं, यह एक असंदिग्ध सत्य है, गंगा स्नान से शारीरिक सन्ताप की निवृत्ति होती है, जब की प्रभु वाणी की गंगा बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार के सन्तापों को दूर कर देती है, त्रिविध तापों को दूर करने वाली प्रभु की वाणी ही है।

गंगा नदी में अनेक लहरें लहराती रहती हैं तो इस वाणी-गंगा में विविध नय रूपी कल्लोलें सुशोभित होती हैं। भगवान् की समस्त वाणी नयानुगत ही होती है।

वाणी-गंगा में स्नान करने से जबर्दस्त पुण्य होता है, परन्तु पुण्योदय की तीव्रता के फलस्वरूप ही इसमें स्नान करने

भ० अरिष्टनेमि की आज्ञा लेकर, श्मशान में जाकर ध्यान में लीन हो गए। सोमिल ब्राह्मण उधर होकर निकला। अपने होने वाले जामाता को अचानक साधु-अवस्था में देख कर आगबबूला हो गया। उसने आगा-पीछा न देख, वैर का बदला लेने की दुर्भावना से उनके सिर पर गीली मिट्टी की पाल बांधी और चिता में से धधकते हुए अंगार लाकर सिर पर रख दिये। ऐसा पैशाचिक कृत्य करके वह रवानो हो गया।

गजसुकुमार मुनि ने भगवान् की वाणी से अलौकिक शक्ति प्राप्त कर ली थी। अतएव असह्य वेदना होते हुए भी उन्होंने अपने द्वेषी के प्रति मन से भी क्रोध नहीं किया। वे शान्त भाव दुस्सह वेदना सहन करते रहे। अन्त में उन्हें सर्वोत्तम सिद्धि प्राप्त हुई।

तो मनुष्य जब भगवान् की वाणी बार-बार सुनता है तो उसे अमल भी करना चाहिए। कोई रोगी अगर अपने रोग की औषध सुन ले और समझ ले, मगर उसका सेवन न करे तो किस प्रकार नीरोगता प्राप्त कर सकता है ? इसी प्रकार भगवान् की वाणी को जीवन में व्यवहृत किये बिना उद्धार नहीं हो सकता। जो पुण्यशाली पुरुष भगवान् की वाणी रूपी गंगा में पवित्र भावना के साथ अवगाहन करते हैं, उनकी आत्मा पवित्र हो जाती है।

समवायांग सूत्र–

जिस जिनवाणी की यह महिमा है, वही मैं आपको सुनाने जा रहा हूं। समवायांगसूत्र का व्याख्यान चालू है। कल कतिपय

दो-दो वस्तुओं का विवरण सुनाया गया था। आज भी वहीं से आगे सुनाया जा रहा है।

पूर्वाफाल्गुनी उत्तराफाल्गुनी, पूर्वा भाद्रपदा तथा उत्तरा-भाद्रपदा नक्षत्र के दो दो तारे हैं।

प्रथम नरक के किसी-किसी नारक की दो पल्योपम की स्थिति है। दूसरे नरक में किसी-किसी नारक की दो सागरोपम की स्थिति है।

असुरकुमार देवताओं में किसी-किसी की स्थिति दो पल्योपम की है। शेप भवनपतियों में किसी-किसी की दो पल्योपम से कुछ कम स्थिति है।

असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंचों और मनुष्यों में से किसी किसी की स्थिति दो-दो पल्योपम की होती है। प्रथम और द्वितीय देवलोक के किसी-किसी देव की स्थिति भी दो पल्योपम की होती है। प्रथम देवलोक में उत्कृष्ट दो सागरोपम की और दूसरे देवलोक में उत्कृष्ट दो सागरोपम झाझेरी स्थिति है। तीसरे देवलोक में जघन्य दो सागरोपम की स्थिति है। चौथे देवलोक में जघन्य दो सागरोपम झाझेरी स्थिति है।

जिन देवों की दो सागरोपम की स्थिति है वे दो पक्षों में अर्थात् एक मास में श्वासोच्छ्वास लेते हैं। उन्हें दो हजार वर्षों में एक बार भोजन करने की इच्छा होती है।

संसार में कितनेक भव्य जीव ऐसे हैं जो दो भव करके सिद्ध होंगे, बुद्ध होंगे, मुक्त होंगे, परिनिर्वाण प्राप्त करेंगे और समस्त कर्मों का अन्त करेंगे।

अब तीन-तीन विकल्पों के विषय में बतलाया जा रहा है-आत्मा को दण्डित करने वाला दण्ड कहलाता है। दण्ड तीन प्रकार के हैं-मनोदण्ड, वचनदण्ड, कायदण्ड। मन के द्वारा दुष्ट चिन्तन करना, जैसे अमुक मर जाय, जल जाय या फलां का ऐसा अनिष्ट हो जाय इत्यादि मनोदण्ड कहलाता है। वचन से किसी को बुरा बोलना-गाली देना, कर्कश एवं कठोर शब्दों का प्रयोग करना, पीड़ाजनक बात कहना, वचनदण्ड है, काय से दुष्ट कार्य करना-अप्रशस्त व्यापार करना कायदण्ड है। यह तीनों दण्ड आत्मा को ही दुखी बनाने वाले हैं, इनके द्वारा आत्मा दण्डित होता है। अतएव प्रशस्त व्यापार में मन, वचन, काय को लगाकर अप्रशस्त व्यापार से बचना चाहिए।

तीन गुप्तियां हैं, गोपन करने को गुप्ति कहते हैं, बुरे विचारों को गोपन करना मनोगुप्ति है, अशुभ वचनों का गोपन करना वचन गुप्ति है और अप्रशस्त शारीरिक व्यापारों का गोपन करना कायगुप्ति है, गुप्ति की आराधना से संवर की प्राप्ति होती है।

शल्य तीन हैं-माया, निदान, मिथ्यात्व और जैसे अङ्ग में चुभा हुआ कांटा जब तक निकल नहीं जाता तब तक बराबर व्यथा पहुँचाता रहता है इसी प्रकार यह तीनों शल्य निरन्तर आत्मा

को पीड़ा देते रहते हैं, इनमें पहला शल्य माया है, इसके संबंध में शास्त्र में कहा गया—

तवतेणे वयतेणे, रुवतेणे य जे नरे,
आयारभावतेणे य, कुव्वई देवकिव्विसं।

—दशवैकालिकसूत्र, अ० ५-२ गा० ४६

साधु या साध्वी साधना के लिए तत्पर होता है और वह झूठ तथा दगाबाजी का काम करता है और इस प्रकार तपस्या करता है तो वह तपस्या का चोर कहलाता है, मान लीजिए किसी साधु का नाम तपस्वी के रूप में प्रख्यात हो गया है, उसी नाम का कोई दूसरा साधु भी है, उससे किसी ने पूछा–वह प्रख्यात तपस्वी क्या आप ही हैं ? तब वह साधु कपट करके कहता है–'अजी, साधुओं का तो कर्त्तव्य ही तपस्या करना है।' इस प्रकार गोलमोल बात करके वह उस तपस्वी की ख्याती से लाभ उठाता है। वह तपस्या का चोर कहलाता है। यह धोखाबाजी है।

किसी साधु की वाणी मीठी और प्रभावजनक होती है। किसी श्रावक ने भ्रमवश किसी दूसरे साधु से पूछा—जिनकी वाणी की विशिष्टता प्रसिद्ध है, क्या आप वही हैं ? तब वह दूसरा साधु यदि स्पष्ट रूप से इंकार न करके गोलमोल उत्तर देता है-साधु की वाणी में मिठास तो होना ही चाहिए। तो इस प्रकार कहने वाला वचन-चोर है।

इसी प्रकार किसी प्रख्यात एवं प्रतिष्ठाप्राप्त साधु के समान रूप वाला कोई दूसरा साधु माया का आचरण करके उसकी प्रतिष्ठा से लाभ उठाता है तो वह रूप का चोर कहलाता है।

किसी साधु का आचरण उच्चकोटि का है। जनता में उसकी बहुत ख्याति है। कोई श्रावक अपरिचित होने के कारण दूसरे किसी साधु से पूछता है। क्या वह आचारनिष्ठ महात्मा आप ही हैं? तब वह स्पष्ट उतर नहीं देता और उस आचार निष्ठ महात्मा की ख्याति से लाभ उठाने की नीयत से कहता है। 'साधु को आचार-निष्ठ तो होना ही चाहिये। यथाशक्ति आचार का पालन करता रहता हूँ। ऐसा कहने वाला आचार का चोर है।

अरे साधक! सब साधु आचारवान् होते हैं, यह तो ठीक है, मगर तू किसी की ख्याति से लाभ क्यों उठाना चाहता है? प्रश्न कर्त्ता को सही उत्तर क्यों नहीं देता कि वह विख्यात आचार वान् महात्मा दूसरे हैं? तू गोलमोल उत्तर देकर दूसरे को भ्रम में डालता है। ऐसा करके तू आचार-चोर बनता है और अपने को दुर्गति के मार्ग पर लेजाता है। तेरी बुद्धि निष्कपट होनी चाहिये। तू जो कपट करता है, उससे कदाचित् कुछ तात्कालिक लाभ उठा सकता है, मगर उसका दुष्परिणाम तो आगे भयानक रूप में भोगना ही पड़ेगा। भगवान् ने बतलाया है कि महीने में तीन और वर्ष में दस माया स्थानों के सेवन से शबल दोष का भागी होना पड़ता है। अगर पुरुष मायाचार का सेवन करेगा तो उसे स्त्री होना पड़ेगा। स्त्री करेगी तो उसे नपुंसक होना पड़ेगा। कहा भी है—

नर से नारी होय कपट से नारी नपुंसक थावेरे।
गौतम पृच्छा मांय साफ ज्ञानी फरमावे रे॥ १॥
कपट मत कीजो रे, कपट मत कीजोरे।
थांने न्याय बात कहूँ सो सुण लीजोरे॥ टेर॥

गौतम पृच्छा में बतलाया गया है कि मायाचार करने की अवस्था में यदि आयुष्य का बंध होता है तो तिर्यंच आयु बँधती है। तिर्यंचयोनि की आयु बँधने के चार कारण हैं। झूठ बोलना, माया का सेवन करना, माया में माया करना, कूड़ा तोल माया करना। इस कारण भगवान् फर्माते हैं कि-हे भव्य जीवो! माया का सेवन मत करो। इस छोटे से जीवन के लिये कपट करके भविष्य को मत बिगाड़ो। मायाचार करके कुछ अधिक कमा भी लिया तो उससे क्या बनने वाला है! तुम्हारी आत्मा भारी बन जाएगी। उसे ऊँचा उठाना मुश्किल हो जाएगा, क्यों कि भारी चीज नीचे ही जाती है। कदाचित् धोबी का कुत्ता बन गया या गधा बन गया तो डण्डे खाने पड़ेंगे और गदे कपड़ों का भार वहन करना पड़ेगा। उस समय कितना कष्ट होगा? कहा है—

कपट करी रावण सीता को ले गया लंका माहीं रे।
काम कछू न सर्यो जिहने अपकीर्ति पाई रे॥

कपट कर रावण सीता को लंका में उठा ले गया। परन्तु उसकी मनोकामना पूर्ण न हो सकी। यद्यपि रावण महान् बलशाली, नीतिवेत्ता और तीन खण्ड का स्वामी था। परन्तु अपनी बहिन सूर्पनखा की बातों में आगया और भविष्य का विचार किये बिना ही राम की पत्नी का अपहरण कर ले गया।

अपहरण की घटना वैष्णव और जैन दोनों परम्पराओं में मानी गई है मगर उनके ब्यौरे में कुछ अन्तर है। वैष्णव ग्रन्थ कहते हैं, रावण ने सीता को हरण करने के लिए सोने का मृग बनाया। हिरण पर सीता की नजर पड़ी तो उन्होंने उसे

पकड़ने के लिए राम से आग्रह किया। राम उसे पकड़ने के लिये चले गए।

जैन रामायण में बतलाया गया है, खर दूषण लड़ाई के लिए गये हुए थे। राम सीता के पास रहे और लक्ष्मण को लड़ाई के लिए भेज दिया और कह दिया आपत्ति का समय आजाय तो शंख बजा देना। मैं सहायता के लिए आजाऊँगा।

लड़ाई के समय रावण ने धोखा देने के लिए शंख बजा दिया। शंख ध्वनि सुन कर सीता ने राम से कहा नाथ! लक्ष्मण आपको सहायता के लिए बुला रहे हैं।

राम बोले मुझे धोखा मालूम होता है। लक्ष्मण के शंख बजाने की यह ध्वनि नहीं है।

फिर भी सीता के अत्याग्रह से रामने जाने का निर्णय किया। मगर जाने से पहले वे कुटिया के बाहर एक कार खींच गये और हिदायत कर गये, देखो सीते, समय खराब है, इस कार के बाहर पैर मत रखना।

राम के चले जाने के पश्चात्, अवसर देख कर रावण साधु का वेश बना कर राम की कुटिया के पास पहुँचा और अलख जगाने लगा। साधु की आवाज सुन कर सीता बाहर निकली और साधु का अभिवादन करके बोली, महात्मन्! आप को क्या चाहिये?

रावण ने कहा दूधो नहाओ, पूतों फलो। मुझे कुछ खाने को दो।

सीता अन्दर से फल फूल लाई और कार के अन्दर खड़ी होकर बोली, इस भिक्षा को स्वीकार कीजिए।

रावण ने आवेश में आकर कहा, क्या साधु को देने की यही विधि है? देना है तो यहां आकर दें। अन्यथा साधु बिना भिक्षा लिये खाली लौट जाएगा।

सीता ने दान देने की भावना से प्रेरित होकर अपनी मर्यादा को भुला दिया। वह कार के बाहर चली गई। रावण यही चाहता था। वह बुरी तरह सीता पर झपटा और पकड़ कर जबरदस्ती विमान में डाल कर लंका की ओर चल दिया। वहां पहुँच कर उसने सीता को अशोक वाटिका में रक्खा और तरह२ के प्रलोभन तथा दुःख दिये। मगर सीता अपने पतिव्रत धर्म से लेश मात्र भी विचलित नहीं हुई।

आखिर राम को सीता का पता चला तो उन्होंने लंका पर चढाई की। घोर संग्राम हुआ लाखों मनुष्यों का वध हुआ और अन्त में रावण स्वयं भी मारा गया। राम सीता को लेकर अयोध्या लौट गये।

रावण ने कपट करके सीता का अपहरण किया था। उस की बदनामी आज भी कायम है।

जो लोग दूसरों को धोखा देकर पूंजी जमा करते हैं उन्हें उसका दुष्परिणाम एक दिन भोगना ही पड़ेगा। आज अनेक व्यापारी व्यापार में धोखा देना पाप ही नहीं समझते। वे दिखाते कुछ और तथा देते कुछ और हैं, परन्तु जब इस कपटाचार का

फल उन्हें भोगना पड़ेगा, तब छठी का दूध याद आएगा। और भी कहा है-

मल्लि जिन पूरव भव में तपस्या में कपट कमायो रे।
जयंत विमान ने चवी वेद स्त्रीलिंग पायो रे ॥

भाइयों ! औरों की बात छोड़िये, कपट तीर्थंकर को भी नहीं छोड़ता। मल्लिनाथ का जीव पूर्वभव में महाबल राजा के पर्याय में था। राजा ने विरक्त हो, राज्य त्याग कर अपने छह मित्रों के साथ दीक्षा अंगीकार की। साधु बनकर उन्होंने मित्रों से कपट करके तपस्या की। साथी बेले की तपस्या के बाद पारणा के लिए भिक्षा ले आते तो वे तेला कर लेते। यद्यपि वह तपस्या ही अधिक करते थे तथापि मित्रों के साथ सरलता का व्यवहार न करने और कपट करने के कारण उन्हें; जयन्त विमान में उत्पन्न होने और वहां से च्युत होने के पश्चात् स्त्री के रूप में जन्म लेना पड़ा तो इस प्रकार के थोड़े से कपट का भी दुष्परिणाम आत्मा को भोगना ही पड़ता है। और—

शंख राजा ने जसोमती रानी,
ज्यांने वहरायो दाखां को पानी।
नेम राजुल हुआ तवकारो रे ॥
शुद्ध दान थकी खेवा पारो ॥ टेर ॥

भाइयों ! पूर्व जन्म में शंख राजा और यशोमती रानी थी। एक वार एक तपस्वी उनके यहां पहुंचे। तपस्वी ने धोवन पानी की याचना की। उस समय दाखों का धोवन पड़ा था। राजा-रानी

मिलकर तपस्वी को धोवन-पानी बहराने लगे। मगर रानी के मन में कपटभाव उत्पन्न हुआ और उसने सोचा- मैं राजा से कुछ अधिक बहराऊं ! इस विचार से परोक्ष रूप में राजा के साथ धोखा हो गया। इतने मात्र कपट से रानी को राजीमती के रूप में जन्म लेना पड़ा। राजा शंख का जीव नेमिनाथ हुआ।

दुनिया धोखा करके राजी होती है, परन्तु अपने लिए दुःख के बीज बो लेती है।

शास्त्रकारों ने तीन शल्यों में मायाचार को भी एक शल्य माना है और यह जन्म-जन्मान्तर में भी खटकता रहता है। अतएव मनुष्य के जीवन में भी मन की, वचन की और काय की सरलता होनी चाहिये। मन से, वचन से, काय से और विसंवाद से-इस तरह चार प्रकार से दगा बाजी होती है, मगर जिसमें यह न हो वही पवित्र जीवन है।

दूसरा शल्य है निदान। धर्मक्रिया करके उसे किसी भौतिक स्वार्थ के लिए बेच देना अर्थात् उसके बदले सांसारिक सुख की कामना करना निदान है। मैं इस धर्मकृत्य के बदले स्वर्ग पाऊं इन्द्र की पदवी पाऊं, चक्रवर्त्ती होऊं, इत्यादि कामना करना बाटी के बदले खेत दे डालने के समान मूर्खता है। यह कहावत यों प्रचलित हुई:-

मालवा का एक किसान मारवाड़ में पहुँचा। उसने अवसर देखकर किसी खेत में बाटियां बनाई खेत के मालिक ने गोल-गोल बाटियां देखी तो मुंह में पानी भर आया। उसने न कभी बाटियां देखी थीं न खाई थीं, अतएव वह उन्हें पाने के लिये अत्यन्त

उत्कण्ठित हुआ। उसने मालवीय किसान से कहा-यह अनोखी चीज मुझे भी खिलाओ। तब उसने उत्तर दिया-मैं यह चीज खिला तो सकता हूँ परन्तु इसके बदले मुझे कुछ देना पड़ेगा। खेत के मालिक ने उस चीज का नाम और मूल्य पूछा तो चतुर मालवीय ने कहा—यह 'बाटी' कहलाती है और इसकी कीमत है एक खेत। पाव खेत, आधा खेत, यों करते—करते अन्त में खेत के मालिक ने उसे पूरा खेत देना स्वीकार कर लिया। यद्यपि दूसरों ने उसे बहुत रोका, मगर बाटी के लोभी उस किसान ने अपना लहराता हुआ सारा खेत उसे दे दिया।

पथिक उस खेत का मालिक बन गया और मालिक अपने घर चला गया। यथा समय फसल पक कर तैयार हुई और अनाज का ढेर लगा। तब खेत का पुराना मालिक भी उसे देखने आया। देख कर वह अत्यन्त पश्चाताप करने लगा-हाय, बाटी के बदले मैंने सारा खेत गंवा दिया!

तो शास्त्रकार यही कहते हैं कि धर्मक्रिया करके उसे बाटी के लिये मत बेचो। यह निदान शल्य नौ प्रकार का बतलाया गया है।

राजगृह नगर के बाहर भगवान् महावीर का समवसरण लगा था। राजा श्रेणिक और महारानी चेलना भी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर भगवान् के दर्शनार्थ गये। भगवान् को वन्दना नमस्कार करके देशना श्रवण करने लगे। उनके रूप-लावण्य और शृंगार को कई साधु-साध्वियों ने ललचाई दृष्टि से देखा।

उन्होंने निदान किया कि अगर हमारी करणी का फल हो तो हम भी राजा-रानी जैसे बनें ।

अन्तर्यामी भगवान् से यह मानसिक व्यापार छिपा नहीं रहा। उन्होंने सोचा-यह मेरे बैंठ लुटे जा रहे हैं। अतएव भगवान् ने अपनी देशना में निदान शल्य के दुष्परिणामों पर प्रकाश डाला। उसे सुनकर साधु-साध्वियों को होश आया और उन्होंने आत्मशुद्धी की।

उन साधु-साध्वियों के सामने सर्वज्ञ भगवान् ने विद्यमान थे। भगवान् ने उनके मन की कामना को जान लिया। मगर आज कोई लोकोत्तर ज्ञानी नहीं है, अतएव हमें स्वयं ही अपने मन को परखना पड़ेगा और देखना होगा कि हम धर्मक्रिया के बदले किसी प्रकार के लौकिक लाभ की लालसा तो नहीं रखते ? अगर रखते हैं तो चिन्तामणि को कौड़ियों के बदले बेच रहे हैं ! तीर्थंकर भगवान् ने फर्माया है- ऐ मुमुक्षु जीवों ! तुम धर्म-क्रिया करो मगर निदान करके इसके फल को मत बेचो । कबीरदास ने कहा है-

कबिरा करनी आपनी, कबहुँ न निष्फल जाय।
सो कोसां पाछी फिरे, मिले अगाड़ी जाय ॥

दुनिया के लोगों ! विश्वास रक्खो। तुमने जो करनी की है, वह निष्फल जाने वाली नहीं है। उसका शुभ फल मिल कर ही रहेगा। अगर निदान किया तो महान् से महान् फल भी अति तुच्छ होकर रह जाएगा। अतएव निदान शल्य को हृदय में प्रवेश न होने देना चाहिए।

तीसरा शल्य मिथ्यात्व है। देव, गुरु, और धर्म के विषय में विपरीत श्रद्धा, रुचि और प्रतीति होना मिथ्यात्व है। अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म समझ लेना, देव को कुदेव और कुदेव को देव मान लेना तथा सुगुरु को कुगुरु और कुगुरु को सुगुरु समझना मिथ्यात्व कहलाता है। यह मिथ्यात्व शल्य सबसे अधिक भयानक और जबर्दस्त है। यह समस्त दुःखों और पापों का मूल है। यह शल्य जीव को सन्मार्ग पर नहीं लगने देता। अतएव इसका सर्व प्रथम त्याग करना चाहिए।

इस प्रकार जो तीनों शल्यों का परित्याग कर देंगे, वे इस लोक और पर लोक में सुखी होंगे।

अमरसेन वीरसेन चरित्रः—

कल दोनों राजकुमारों के जन्म का वृत्तांन्त बतलाया जा चुका है। महारानी दोनों बालकों का अत्यन्त प्रेमपूर्वक लालन-पालन करने लगी! धीरे-धीरे समय व्यतीत होता गया और बालक पांच वर्ष के हो गए।

भवितव्यता को कोई टाल नहीं सकता। फिर जन्म के बाद मृत्यु होना तो प्रकृति का अटल नियम है। ज्योतिषियों की भविष्य वाणी के अनुसार एक दिन महारानी का स्वर्गवास हो गया। महारानी के वियोग से महाराजा के हृदय को गहरा आघात लगा, मगर उन्हों ने किसी प्रकार मन को धैर्य बंधाया और सोचा-मौत कोई नयी बात नहीं है। एक न एक दिन सभी को जाना है, किसी को आगे किसी को पीछे। रोने हाय-हाय करने और छाती

पीटने से मृत व्यक्ति पीछा आ नहीं सकता। ऐसी स्थिति में क्यों व्यर्थ शोक करके असाता वेदनीय कर्म का बंध किया जाय ?

दुनियां मृतक के नाम पर स्वार्थ या दिखावे के लिये रोती और रुलाती हैं। लोग शोकग्रस्त व्यक्ति के शोक को मिटाने के लिए नहीं वरन् बढ़ाने के लिये पहुँचते हैं। अन्यथा कौन नहीं जानता कि रोना पीटना एक दम निरर्थक है। कई लोग और विशेष रूप से बहिनें तो लोक रूढि को जीवित रखने के लिये ही रोने का प्रदर्शन करती हैं अगर कोई समझदार नहीं रोता तो उसकी आलोचना भी की जाती है। मगर यह सब अज्ञान का परिणाम है। इससे पाप कर्म का बंध होता है। वस्तुतः रोना-पीटना किसी भी दृष्टि से वांछनीय नहीं है। ऐसे प्रसंग पर मनुष्य को धीरज से काम लेना चाहिये और तत्व का विचार करना चाहिये और शान्ति प्राप्त करना चाहिए।

दिल्ली चातुर्मास के समय एक बाई के पति का देहान्त हो गया। वह तीसरे दिन दर्शन करने आई। बोलीं-महाराज ! मेरा पापकर्म उदय में आया है अब रोने-धोने से क्या होता है ?

मैंने कहा बाई, तुम समझदार हो। इस का प्रतीकार धर्म क्रिया करना ही है। धर्म में चित्त लगाओ और आर्त्तध्यान करके नवीन पाप उपार्जन मत करो।

हां, तो राजकुमारों की माता का देहान्त हो गया। विमाता उनका प्रतिपालन करने लगी। जब वे कुछ और बड़े हुए तो राजाने उन्हें शिक्षित करने के लिये उपाध्याय के पास भेज दिया। दोनों कुमार अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि थे; अतएव वे शीघ्र ही विद्याओं और कलाओं में प्रवीण हो गये।

राजा का उन पर अतीव प्रेम था। वे कहीं भी जाते तो राजा की ओर से कोई रुकावट उनके लिये नहीं थी। राजकुमार बहुत सुशील थे और प्रजाजनों में प्रिय भी थे। लोग मुक्त कंठ से उनके सौजन्य की प्रशंसा किया करते थे। उनका खाना, पीना, उठना, बैठना, बोलना आदि सभी कार्य दूसरों के मन को हरण करने वाले थे।

धीरे २ दोनों कुमारों ने यौवन में प्रवेश किया। उनके सोये हुए सभी अङ्ग जागृत हो गये। सब इन्द्रियां अपने २ विषय को ग्रहण करने में समर्थ बन गईं। चेहरा भी ओज और तेज से परिपूर्ण हो गया। आकृति में अपूर्व लावण्य और सौन्दर्य आकर बस गया। फिर भी आर्य संस्कृति के वातावरण में पले हुए राजकुमार अपनी कुलमर्यादा का भलीभांति पालन करते थे। अतएव वे पिता के प्रेम और प्रजा के आदर के पात्र बने हुए थे। लोग पीठ पीछे भी उनकी प्रशंसा करते नहीं अघाते थे।

रानी प्रेमिला की मृत्यु के पश्चात विमाता ने उनका पालन पोषण किया। वह उन्हें अपने पुत्र के समान ही समझती रही थी, किन्तु एक दिन अचानक ही उसकी विचारधारा दूसरी दिशा में बहने लगी। उसने सोचा-यह मेरे उदर से तो उत्पन्न हुए नहीं हैं। मैंने केवल पालन-पोषण किया है। जब महाराज चल बसेंगे और यह राज्य के अधिकारी बनेंगे तो मेरी क्या स्थिति होगी? कौन मुझे पूछेगा? जब इनका विवाह हो जाएगा ये अपनी पत्नी के इशारे पर चलने लगेंगे उस समय मैं नाम मात्र को भले राज-माता कहलाऊं, मगर मेरे अधिकार सब छिन जाएंगे। अतएव अपने भविष्य को निष्कंटक बनाने के लिये पहले से ही उपाय सोच लेना उचित है।

भाइयो ! उक्ति है—'अर्थी दोषं न पश्यति।' स्वार्थी दोष-गुण की विवेचना नहीं कर पाता। रानी स्वार्थ में इतनी अन्धी हो गई कि उसका विवेक नष्ट हो गया। उसने राजकुमारों को खत्म कर देने का क्रूर विचार किया। सोचा—'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी।' विषप्रयोग से शस्त्रप्रयोग से, मन्त्रप्रयोग से अथवा किसी दूसरे उपाय से इन्हें मरवा डालने में ही मेरा कल्याण है।

फिर सोचा-अगर मेरा किया उपाय कारगर न हुआ तो क्या होगा ? मेरा पाप भी प्रकट हो जाएगा और काम भी नहीं बनेगा। कुमार मेरे सदा के लिए शत्रु हो जाएँगे और मैं राजा की नजर में गिर जाऊँगी। अतएव यह उपाय ठीक नहीं है। ऐसा कोई उपाय सोचना चाहिए कि हत्या के पाप से बच जाऊँ बद-नामी से भी बची रहूँ और प्रयोजन की सिद्धि भी प्राप्त कर लूँ।

विचार करते करते रानी को नयी सूझ आई। उसने कुमारों को कोई बड़ी तोहमत लगाने का विचार किया। सोचा—यह उपाय बहुत सुन्दर रहेगा। मैं हत्या की भागिनी भी नहीं होऊँगी और मेरी राह के कांटे भी दूर हो जाएँगे। राजा मेरे मुँह से इनकी दुश्चरित्रता की बात सुनेंगे तो अवश्य ही कुपित हो जाएँगे और या तो किसी के द्वारा मरवा डालेंगे या देश-निकाला दे देंगे। मेरा रास्ता साफ हो जाएगा।

पामर प्राणी ! अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए कितना नीचे गिर जाता है। मानो अनन्त काल तक उसे जीवित रहना है। क्षणभंगुर जीवन के लिए घोर पाप का आचरण करने वाले

वास्तव में दया के पात्र हैं। वे नहीं जानते कि भविष्य में उनकी कैसी दुर्गति होगी। दुष्कर्म का फल किस प्रकार भोगना पड़ता है, यह तथ्य एक दृष्टान्त द्वारा समझाने का प्रयत्न करता हूं।

एक बार नासिक में कोई मेला था। आजाद-नगर से माल लेकर एक आदमी निकला। उसने मेले में दुकान लगाई। बिक्री अच्छी हुई और प्राप्ति भी अच्छी हुई। मेला उजड़ जाने के बाद वह जब अपने गांव को लौट रहा था तो रास्ते में एक जंक्शन मिला। वहां उसने सोचा—घर पहुँचते ही बाल बच्चे पूछेंगे-हमारे लिए क्या लाए? मैं उन्हें क्या उत्तर दूंगा। उनके लिए कुछ खरीद लेना चाहिए।

वह एक धर्मशाला में रुक गया। कमरे में ताला लगा कर बच्चों के योग्य सामान-मिठाई, फल, मेवा आदि खरीदने बाजार चला गया। उसके जाने के पश्चात् वहां एक चोर आया। पड़ौस में एक मनुष्य और ठहरा हुआ था। चोर ने उस मनुष्य को छुरे से मार डाला और उसकी लाश पड़ौस के कमरे में डाल दी। चोर माल लेकर चलता बना।

वह व्यक्ति अभी तक बाजार में ही घूम रहा था और उधर यह हत्याकाण्ड और चोरी हो गई। थोड़ी देर बाद कोलाहल हुआ और पुलिस घटनास्थल पर आ पहुँची। तहकीकात शुरु हुई। लोगों का जमघट हो गया। उसी समय वह हत्यारा चोर भी साहूकार बन कर वहां आ पहुंचा। उसने पुलिस अधिकारियों से कहा-इस बन्द कमरे को देखो। मुझे सन्देह है, शायद उसकी लाश इस कमरे में हो।

पुलिस ने उसके कथनानुसार कमरे का ताला तोड़ा और स्त्री की लाश सचमुच पड़ी हुई थी। इतने में वह व्यापारी भी बाजार से सौदा खरीद कर लौट आया। आते ही उसे पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। मुकदमा चला। काले पानी की सजा हो गई।

थोड़े दिनों बाद उसी हत्यारे चोर ने किसी दूसरे व्यक्ति को भी मार डाला। इस हत्या के अभियोग में वह पकड़ा गया और उसे भी काले पानी का दण्ड मिला। नीतिकार कहते हैं—

पाप छिपाये ना छिपे, छिपे तो मोटा भाग।
दाबी दूबी ना रहे, रुई लपेटी आग॥

चोर समझता था कि मैंने बड़ी होशियारी से काम किया है। कोई मेरा बाल बांका न कर सकेगा। पर पापी का पाप छिपा नहीं रहता। किसी न किसी दिन वह प्रकट होकर ही रहता है।

जब वह चोर काले पानी में गया तो उसे भी उस व्यापारी के पास ही रक्खा गया। बेचारा व्यापारी निर्दोष था। फिर भी वह दण्ड का भागी बना। इस दुःख के कारण उसे रात में नींद नहीं आती थी और दिन में खाना नहीं भाता था। वह दिन-रात चिन्ता ही चिन्ता में डूबा रहता। सोचता—मेरे बच्चे क्या सोचते होंगे। वे मेरे घर पहुँचने की राह देखते होंगे और मैं यहां आ पहुंचा हूँ।

उस व्यापारी को सदैव चिन्तित और दुखित देख कर उस चोर का पाषाणहृदय भी पीघल गया। उसने सोचा—मैंने घोर पाप किया जो बेचारे निर्दोष व्यक्ति को पकड़वा दिया। मैंने अपना पाप इसके माथे मढ़ दिया। प्रातःकाल होते ही मैं इसके पैर पकड़ कर माफी मांगूंगा।

वास्तव में दया के पात्र हैं। वे नहीं जानते कि भविष्य में उनकी कैसी दुर्गति होगी। दुष्कर्म का फल किस प्रकार भोगना पड़ता है, यह तथ्य एक दृष्टान्त द्वारा समझाने का प्रयत्न करता हूं।

एक वार नासिक में कोई मेला था। आजाद-नगर से माल लेकर एक आदमी निकला। उसने मेले में दुकान लगाई। बिक्री अच्छी हुई और प्राप्ति भी अच्छी हुई। मेला उजड़ जाने के बाद वह जब अपने गांव को लौट रहा था तो रास्ते में एक जंकशन मिला। वहां उसने सोचा—घर पहुँचते ही बाल बच्चे पूछेंगे-हमारे लिए क्या लाए? मैं उन्हें क्या उत्तर दूंगा। उनके लिए कुछ खरीद लेना चाहिए।

वह एक धर्मशाला में रुक गया। कमरे में ताला लगा कर बच्चों के योग्य सामान-मिठाई, फल, मेवा आदि खरीदने बाजार चला गया। उसके जाने के पश्चात् वहां एक चोर आया। पड़ौस में एक मनुष्य और ठहरा हुआ था। चोर ने उस मनुष्य को छुरे से मार डाला और उसकी लाश पड़ौस के कमरे में डाल दी। चोर माल लेकर चलता बना।

वह व्यक्ति अभी तक बाजार में ही घूम रहा था और उधर यह हत्याकाण्ड और चोरी हो गई। थोड़ी देर बाद कोलाहल हुआ और पुलिस घटनास्थल पर आ पहुँची। तहकीकात शुरु हुई। लोगों का जमघट हो गया। उसी समय वह हत्यारा चोर भी साहूकार बन कर वहां आ पहुंचा। उसने पुलिस अधिकारियों से कहा-इस बन्द कमरे को देखो। मुझे सन्देह है, शायद उसकी लाश इस कमरे में हो।

पुलिस ने उसके कथनानुसार कमरे का ताला तोड़ा और देखा तो लाश सचमुच पड़ी हुई थी। इतने में वह व्यापारी भी बाजार से सौदा खरीद कर लौट आया। आते ही उसे पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। मुकद्दमा चला। काले पानी की सजा हो गई।

थोड़े दिनों बाद उसी हत्यारे चोर ने किसी दूसरे व्यक्ति को भी मार डाला। इस हत्या के अभियोग में वह पकड़ा गया और उसे भी काले पानी का दण्ड मिला। नीतिकार कहते हैं—

पाप छिपाये ना छिपे, छिपे तो मोटा भाग।
दाबी दूबी ना रहे, रुई लपेटी आग॥

चोर समझता था कि मैंने बड़ी होशियारी से काम किया है। कोई मेरा बाल बांका न कर सकेगा। पर पापी का पाप छिपा नहीं रहता। किसी न किसी दिन वह प्रकट होकर ही रहता है।

जब वह चोर काले पानी में गया तो उसे भी उस व्यापारी के पास ही रक्खा गया। बेचारा व्यापारी निर्दोष था। फिर भी वह दण्ड का भागी बना। इस दुःख के कारण उसे रात में नींद नहीं आती थी और दिन में खाना नहीं भाता था। वह दिन-रात चिन्ता ही चिन्ता में डूबा रहता। सोचता—मेरे बच्चे क्या सोचते होंगे। वे मेरे घर पहुँचने की राह देखते होंगे और मैं यहां आ पहुंचा हूँ।

उस व्यापारी को सदैव चिन्तित और दुखित देख कर उस चोर का पाषाणहृदय भी पीघल गया। उसने सोचा—मैंने घोर पाप किया जो बेचारे निर्दोष व्यक्ति को पकड़वा दिया। मैंने अपना पाप इसके मत्थे मढ़ दिया। प्रातःकाल होते ही मैं इसके पैर पकड़ कर माफी मांगूँगा।

सवेरा होते ही सचमुच वह चोर उस निर्दोष व्यापारी के पैरों में गिर पड़ा और कहने लगा—भाई ! मैंने ही उस व्यक्ति को मारा था और तुम्हारे कमरे में डाल दिया था। फिर मैंने ही सफेदपोश बन कर तुम्हारे कमरे की तलासी लेने का सुझाव दिया और तुम्हें पकड़वा दिया। इस प्रकार मैंने तुम्हारे प्रति घोर अन्याय किया है। मैं अपने अपराध के लिए क्षमा चाहता हूं। इसके प्रतीकार का यथासंभव प्रयत्न करूँगा।

आखिर जेलर के सामने उसने सारी बात खोल कर रख दी और उस निर्दोष व्यक्ति को छुटकारा मिल गया।

आशय यह है कि संसार में ऐसे लोग भी बहुत हैं जो अपने अपराध को दूसरे के मत्थे मढ़ देते हैं और स्वयं बेदाग बच जाते हैं। इस प्रकार दूसरों की आंखों में धूल झौंकने वाले थोड़े समय तक भले चैन की वंशी बजा लें, किन्तु उनके जीवन में एक दिन अवश्य ऐसा आता है कि पाप प्रकट हो जाता है और उसका फल भी उन्हें भुगतना पड़ता है।

तो रानी के दिल में भी पाप आया। उसने सोचा—राजा मेरे इशारे पर चलता है। थोड़ा ढोंग रचने से ही काम चल जाएगा।

भाइयो ! कोई कुछ भी सोचे, आखिर पुण्य का तीव्र उदय है तो कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। ऐसा सोचकर पुण्य का संचय करना चाहिए। इसी में कल्याण है।

बेंगलोर केन्टोमेन्ट
१४-६-५६ }

मुक्ति की वरमाला



प्रार्थना—

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवनजयी कामसुभटः,
कुमारावस्थायामपि निजबलाद्येन विजितः।
स्फुरन्नित्यानन्दः प्रशमपदराज्याय स जिनः,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे॥



जिन भगवान् महावीर ने कुमार अवस्था में ही अपने आत्मबल के द्वारा उस काम रूपी सुभट पर विजय प्राप्त की, जो तीन लोक के समस्त प्राणियों को जीत चुका है और जिसके आवेश को रोकना दुश्शक्य होता है। तथा जिन भगवान् में शाश्वतिक आनन्द सदा स्फुरायमान रहता है तथा जो शान्ति रूपी राज्य के जिनेश्वर हैं, वे भगवान् महावीर स्वामी मेरी दृष्टि के गोचर हों।

भाइयो! इस पद्य में कवि ने बतलाया है कि संसार के सभी प्राणी काम के वशीभूत हैं। क्या पशु-पक्षी, क्या मनुष्य

और क्या देवता, सभी पर काम ने विजय प्राप्त की है। एक देव दूसरे देव की देवांगना को लेकर भाग जाता है। पशु आपस में लड़ते मरते हैं और मनुष्यों में भी इस काम की बदौलत भयंकर लड़ाइयां होती हैं। वास्तव में काम को जीतना बड़ा ही कठिन है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में, उन्नीसवें अध्ययन में कहा है—

विरई बंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं॥

अ० १६ गाथा २८

अर्थात कामवासना से विरत होना अत्यन्त कठिन है। ब्रह्मचर्य बड़ा ही उग्र महाव्रत है और उसका परिपालन करना हँसी-खेल नहीं है।

कामभोग के लिए अतीत काल में कितने बड़े बड़े संग्राम हुए हैं, यह बात साहित्य के पृष्ठ-पृष्ठ पर अंकित है। आज भी इस वासना के वशीभूत होकर लोग प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। सीता के लिए, रुक्मिणी के लिए, तारा के लिए और अनगिनती स्त्रियों के लिए भारी लड़ाइयां लड़ी गई हैं। इसका प्रधान कारण कामवासना पर विजय न प्राप्त करना ही है। कामवासना पर विजय प्राप्त कर ली होती तो लड़ाई लड़ने की आवश्यकता ही नहीं होती। खून की नदियां न बहतीं। परन्तु भगवान् महावीर ने उस दुर्जेय कामवासना पर भी विजय प्राप्त की।

काम को जीतना असाधारण वीरता का काम है। कोई कितना ही प्रचण्ड योद्धा हो, सूरवीर हो, अनेक शस्त्रों का धारक

हो, भीषण युद्धों का विजेता हो, मगर वह भी कामिनी के वशीभूत होकर कायर बन जाता है। किन्तु धन्य हैं भगवान् महावीर! जिन्होंने उठते यौवन में ही काम पर विजय प्राप्त की और पूर्ण संयममय जीवन विताया। ऐसे भगवान् महावीर मेरे दृष्टिगोचर हों। भगवान् यदि नेत्रों के समक्ष होंगे तो जीवन में अब्रह्मचर्य की भावना नष्ट हो जाएगी।

ब्रह्मचर्य के पालन से ही शान्ति का लाभ हो सकता है। आत्मा जब तक ब्रह्मचर्यनिरत नहीं बनता, तब तक शान्ति का लाभ भी नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्य अधिकारीभेद से दो प्रकार का है—एकदेश ब्रह्मचर्य और पूर्णब्रह्मचर्य। पूर्णब्रह्मचर्य पूर्ण शान्ति का दाता है, मगर जिसमें इस प्रकार का ब्रह्मचर्य पालने की शक्ति विकसित नहीं हुई है, वह श्रावक के योग्य आंशिक ब्रह्मचर्य का पालन करता है और परस्त्रीसेवन का त्याग करता है। इससे भी शान्ति की प्राप्ति होती है।

ब्रह्मचर्य जितना महान् गुण है, उसकी साधना भी उतनी ही कठिन है। श्रीमद् उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि दो लाख योजन के लवणसमुद्र को पार करना कठिन है, मगर ब्रह्मचर्य की आराधना करना और भी कठिन है। अतएव ब्रह्मचर्य की आराधना के लिए मनुष्य को निरन्तर सावधान और प्रयत्नशील होना चाहिए। ब्रह्मचर्य की साधना जीवन में जब मूर्त्तरूप धारण करती है, तब अनेकानेक गुण अनायास ही प्रकाशमान हो उठते हैं। इसके विपरीत, जहां ब्रह्मचर्य की मर्यादा नहीं होती वहां किसी भी सद्गुण का निवास नहीं रहता और अनेक प्रकार के पाप अड्डा जमा लेते हैं। वास्तव में ब्रह्मचर्य आत्मा के लिए परम

रसायन है, आत्मा के विकास का असाधारण कारण है। जिन्होंने ब्रह्मचर्य की पूर्ण आराधना करके जगत् के समक्ष एक महान् आदर्श उपस्थित किया, वे भगवान् महावीर सदैव हमारे नेत्रों के सामने रहें, जिससे हम भी उनके चरण चिह्नों पर चल कर आत्मा का उत्थान कर सकें।

समवायांगसूत्र-

अब उन्हीं भगवान् महावीर की वाणी आपको सुनाई जा रही है।

कल तीन प्रकार के दण्ड, गुप्ति और शल्य बतलाये जा चुके हैं। आगे कहा गया है कि गर्व तीन प्रकार के हैं—ऋद्धिगर्व, रसगर्व और सातागर्व।

किसी-किसी को अपनी ऋद्धि (विभूति) का अहंकार होता है। वह अकड़कर कहता है—मैं विपुल वैभव का स्वामी हूं, राज्य का अधिकारी हूं, मेरे हाथ में सत्ता है, मेरे पास इतनी कोठियां हैं, इतने बंगले हैं। इस प्रकार मनुष्य को प्राप्त वस्तुओं के कारण अभिमान होता है। वह समझता है-मेरे पास जो है, वह दूसरों के पास नहीं है। दूसरों के पास रक्खा हो क्या है। वे मेरी तुलना में कुछ भी नहीं है, नगण्य हैं, तुच्छ हैं। मैं विपुल धन का स्वामी हूं।

मगर ज्ञानी जन कहते हैं—अरे नादान! क्यों वृथा अहंकार करता है? तेरे पास है ही क्या? तेरा शरीर भी वास्तव में तेरा नहीं है तो धन-सम्पत्ति और हवेलियां, कोठियां तेरी कैसे हो सकती है? इस धरती पर असंख्य चक्रवर्त्ती सम्राट् हो चुके

हैं, बड़े-बड़े धनकुबेर हो चुके हैं। उनकी तुलना में तेरा वैभव किस गिनती में है? आज भी एक से एक बढ़ कर धनाढ्य और वैभवशाली लोग मौजूद हैं। उनकी ओर देखेगा तो गर्व करने का कोई कारण नहीं रहेगा।

किसी किसी को रसगर्व हो रहा है, अर्थात् खाने-पीने का अभिमान हो रहा है। कहता है—मैं ऐसा खाना खाता हूं कि दूसरा कोई खा नहीं सकता। पर इस प्रकार का अहंकार करना भी योग्य नहीं है। संसार में सभी स्थितियों के लोग हैं। कोई अपनी स्थिति के अनुकूल रूखा सूखा खाता है तो कोई चुपड़ा खाता है। इसमें अहंकार करने की क्या बात है? इसके अतिरिक्त खाद्य पदार्थ अभिमान करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि गले के नीचे उतर जाने के बाद बढ़िया से बढ़िया और स्वादिष्ट से स्वादिष्ट पदार्थ भी निस्सार यहां तक कि घृणास्पद भी हो जाते हैं। फिर उनके लिए अभिमान नहीं किया जा सकता। अतएव रस का गर्व करना अज्ञान का द्योतक है।

कोई-कोई साता के अभिमान में डूबे रहते हैं। मुझे ऐसा सुख प्राप्त है कि दूसरे को क्या होगा, इस प्रकार का अहंकार करके लोग अपनी आत्मा को कर्मों से भारी बनाते हैं। किसी को अपने मित्रों और पड़ौसियों का भी अभिमान होता है। मगर ज्ञानी कहते हैं—अरे मूर्ख! इनका भी क्यों अभिमान करता है? पूर्व जन्म में किये पुण्य के फल से ये मित्र और पड़ौसी मिल गए हैं। अभिमान करके तू उस पुण्य को क्षीण करके पाप का उपार्जन क्यों करता है? जब तेरा पुण्य समाप्त हो जाएगा तो जिन पर तू अभिमान करता है, वही तेरे दुःख के कारण बन

जाएँगे। तेरा सारा अहंकार काफूर हो जाएगा। अतएव यह तीनों प्रकार के गर्व त्याज्य हैं। एक कवि ने कहा है—

मान करन्ते मर गए, तहां न रह्या वंश।
तीनों टिव्वें देख लो, जादों कौरव कंश॥

द्वारिका के छप्पन कोटि यादवों को अभिमान था कि दुनिया में कोई हमारा मुकाबिला नहीं कर सकता। मगर एक समय आया कि द्वारिका के राजमहल और सारी नगरी द्वीपायन ऋषि की कोपाग्नि से भस्म हो गई। कौरव कहते थे—हम सौ हैं, किसकी मजाल है जो आंख उठाकर हमारे सामने भी देख सके? उधर कंस के दर्प का भी ठिकाना नहीं था। वह कहता था—मैं तीन खण्ड का अधिपति हूं और जरासन्ध का जामाता हूं। कौन मेरे जाज्वल्यमान तेज को सहन कर सकता है? मगर परिणाम क्या हुआ? पांच पाण्डवों ने सौ कौरवों को यमलोक की राह भेज दिया और कृष्णजी ने कंस को कुत्ते की मौत मार डाला।

मान से मनुष्य ऊँचा नहीं चढ़ता, नीचे गिरता है। मान का प्रादुर्भाव होना ही अधःपतन का अंकुर उगना है। अतएव मान का उदय होते ही उसे विनाश का कारण समझ कर समाप्त कर देना चाहिए।

आगे बतलाया गया है—विराधना तीन प्रकार की है—ज्ञानविराधना, दर्शनविराधना और चारित्रविराधना। ज्ञानादि गुणों का सेवन करना आराधना है और उनमें अतिचार या अनाचार लगना विराधना है। ज्ञान में चौदह प्रकार के अतिचारों में से कोई अतिचार लगना ज्ञान की विराधना है। दर्शन अर्थात्

सम्यक्त्व के पांच अतिचारों में से कोई अतिचार लगना दर्शन की विराधना है। पांच महाव्रतों, समितियों और गुप्तियों का शास्त्रोक्त रीति से पालन न करना चारित्र की विराधना है। इन तीनों प्रकार के विराधना से बच कर रत्नत्रय का सेवन करना चाहिए।

मृगशिर, पुष्य, ज्येष्ठा, अश्विनी और भरणी नक्षत्रों के तीन-तीन तारे हैं।

आगे कहा गया है प्रथम नरक के किसी किसी नारक की स्थिति तीन पल्योपम की है। दूसरे नरक में नारकों की उत्कृष्ठ स्थिति तीन सागरोपम की है। तीसरे नरक में जघन्य स्थिति तीन सागरोपम की है। किसी-किसी असुर कुमार देवता की तीन पल्योपम की स्थिति है। असंख्यात वर्ष के आयुष्क वाले संज्ञी तिर्यंच पचेन्द्रियों की तथा गर्भज मनुष्यों की स्थिति उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है। प्रथम और द्वितीय देवलोक में कोई-कोई देव तीन पल्योपम की आयु वाले है। तीसरे और चौथे देवलोक में कोई-कोई देव तीन सागरोपम की आयुवाले होते हैं। जो देवता आसंकर, प्रभंकर, आभाकर, प्रभाकर, चन्द्र चन्द्रावर्त्त, चन्द्रप्रभ, चन्द्रकान्त, चन्द्रवर्ण, चन्द्रलेश्य, चन्द्रध्वज, चन्द्रशृंग, चन्द्रसिद्ध, चन्द्रकूट, और चन्द्रोत्तरावतंसक विमानों में उत्पन्न होते हैं, उनकी उत्कृष्ट स्थिति तीन सागरोपम की है।

तीन सागर की स्थिति वाले देवता तीन पक्षों में अर्थात् डेढ मास में एक वार श्वासोच्छ्वास लेते हैं, उनको तीन हजार वर्ष व्यतीत होने पर एक वार भोजन की इच्छा होती है।

कितने ही भव्य जीव ऐसे हैं जो तीन भव करके सिद्ध

मुक्त होंगे और समस्त दुखों का अन्त करेंगे। तीन के बाद चतुर्थ स्थान में सर्व प्रथम बतलाया गया है कि-कषाय चार हैं। 'कषाय' शब्द कष+आय इन दो शब्दों के संयोग से निष्पन्न हुआ है। कष का अर्थ है-जन्ममरण रूप संसार और आय का अर्थ है-प्राप्ति। तात्पर्य यह है कि जिससे भवभ्रमण की वृद्धि होती है, जन्म मरण की परम्परा बढती है, उस विकार को कषाय कहते हैं क्रोध,मान, माया और लोभ के भेद से उसके चार प्रकार हैं।

क्रोधादि कषायों को ही समस्त अनर्थों का मूल जान कर मुमुक्षु जीवों को त्याग करना चाहिए। सम्यक्त्व और चरित्र का इनसे घात होता है। अतएव यह अवश्य ही त्याज्य हैं।

ध्यान भी चार प्रकार का है। एकाग्र भाव से किसी वस्तु का चिन्तन करना ध्यान कहलाता है। ध्यान में मनकी एकाग्रता अनिवार्य है। उसके चार भेद यह हैं- आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान धर्मध्यान और शुक्लध्यान। जो किसी प्रकार के दुःख से पीडित है, उसके लगातार चिन्तन को आर्त्तध्यान कहा गया है। इष्ट वस्तु का वियोग होने पर उसके लिए चिन्तन करना, अनिष्ट का संयोग होने पर उसके वियोग के लिये चिन्तन करना रोग होने पर उससे छुटकारा पाने के लिए चिन्तन करना और पूर्वभुक्त भोगादि का चिन्तन करना, यह सब आर्त्तध्यान कहलाता है। यद्यपि चिन्ता करने से न इष्ट की प्राप्ति होती है और न अनिष्ट दूर हो जाता है, तथापि मनुष्य अपनी मानसिक दुर्बलता के कारण आर्त्तध्यान करता है और आगे के लिए नवीन पापकर्म बांध लेता है। उचित तो यह है कि प्रत्येक परिस्थिति में समभाव धारण किया जाय और जगत् की विचित्रता का विचार करके संयोग-

वियोग की दशा में हर्ष-विषाद की तरंगें मन-सरोवर में न उठने दी जाएं। मगर चित्त की दुर्बलता ऐसा नहीं करने देती। इस दुर्बलता को दूर करना चाहिए।

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और विषयों के संरक्षण के लिए जो लगातार क्रूर विचार होता है वह रौद्रध्यान कहलाता है। अमुक को मार डालूं, झूठ बोलकर किसी को ठग लूं अमुक की चोरी कर लूं, इत्यादि विचार रौद्रध्यान के अन्तर्गत है। यह ध्यान भी दुर्गति का कारण है। अतएव आत्महितैषी पुरुषों को इससे भी बचना चाहिए।

तीसरा धर्मध्यान है, इसके भी चार विभाग हैं। भगवान् की क्या आज्ञा है, वीतराग देव ने मेरे लिए क्या कर्त्तव्य निर्दिष्ट किया है, क्या मेरे कर्त्तव्य और क्या अकर्त्तव्य है, इस प्रकार के विचार में चित्त को स्थिर करना आज्ञाविचय धर्मध्यान कहलाता है।

संसार के समस्त पदार्थ क्षण-क्षण में परिवर्त्तनशील हैं। कोई भी अपने एक स्वरूप में स्थिर नहीं रहता। आज का बालक कल युवा और फिर वृद्ध अवस्था में जा पहुँचता है और अन्त में शरीर त्याग कर नवीन पर्याय ग्रहण करता है। मैं ऐसे क्षणभंगुर पदार्थों के लिए जीवन का कितना समय व्यर्थ करता हूं और आत्मकल्याण के पथ से कितना विलग हो रहा हूं? इसका कितना दुष्परिणाम मुझे भोगना पड़ेगा और दुर्गति में जाकर किस प्रकार की व्यथाएँ सहन करनी होंगी, इत्यादि चिन्तन करना अपायविचय धर्मध्यान है।

एक कवि ने यथार्थ ही कहा है—

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सब को एक दिन, अपनी-अपनी बार॥

चाहे कोई राजा हो, राणा हो, छत्रधारी और हाथी पर सवार होकर चलने वाला हो, किन्तु सब के जीवन में एक दिन आता है जब शरीर को भी त्याग कर प्रस्थान करना पड़ता है और राजपाट आदि सभी कुछ यहीं रह जाता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है, यह बतलाते हुए एक विद्वान् कहते हैं—

अनित्यानि शरीराणि, वैभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः, कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः॥

जिसके आधार पर मनुष्य टिका है और जिसके माध्यम से सांसारिक पदार्थों के साथ अपना नाता मानता है, वह शरीर ही नित्य नहीं है। ऐसी दशा में वैभव तो नित्य हो ही कैसे सकता है? तिस पर मौत सदा ही सिर पर सवार रहती है। अतएव मनुष्य का यही कर्त्तव्य है कि वह धर्म का संचय करे।

चक्रवर्त्ती छह खण्ड–भरतक्षेत्र का अधिपति होता है, मगर उसे भी मृत्यु नहीं छोड़ती। और उसकी मृत्यु के पश्चात् छह महीने में ही उसका सारा वैभव बिखर जाता है। सूर्य उदित होता है तो अपने साथ प्रकाश लाता है, मगर जब अस्त होता है तो प्रकाश भी गायब हो जाता है। इसी प्रकार पुण्य लेकर

पुरुष आता है तो सब अनुकूल सामग्री जुड़ जाती है और जब पुण्य क्षीण होता है तो सभी कुछ नष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार कर्मों के फल का चिन्तन करना विपाकविचय और कमर पर हाथ रख कर तथा पांव फैला कर खड़े हुए पुरुष के आकार वाले लोक के संस्थान का चिन्तन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही गई हैं पहली अनित्य भावना है, जिसका दिग्दर्शन अभी कराया गया है। दूसरी अशरणभावना है। इसका अभिप्राय यह चिन्तन करना है कि जब मृत्यु आती है तो जीव को कोई बचा नहीं सकता। उस समय न धनबल काम आता है न जनबल। अक्षय धन से परिपूर्ण कोष प्रचण्ड सेना और समर्थ पुत्र-पौत्र आदि स्वजन, कोई भी यमराज के आक्रमण के समय रक्षा नहीं कर सकता। जिनके लिए जीव रात-दिन पचता रहता है, उनमें से कोई चाहे तो भी मृत्यु से नहीं बचा सकता। कहा है—

दल बल देवी देवता मात-पिता परिवार।
मरती विरियां जीव को कोइ न राखनहार॥

जब मृत्यु आसन्न होती है और कृतान्त का क्रूर आक्रमण होता है, उस समय अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म ही शरणभूत होते हैं।

तीसरी एकत्वभावना है। जीव अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है। न साथ में कुछ ला सकता है और न ले जा सकता है। कहा है—

आया जहां से नगन का नगन,
और जाएगा यहां से नगन का नगन।
दो चीजों का साथे चलेगा वजन,
शुभ अशुभ कर्म जो बांधे है मन ॥

बस, नग्न आने वाला नग्न ही जाएगा। साथ में कुछ ले नहीं जा सकता। हां, शुभ या अशुभ जो कर्म किये हैं, वे अवश्य साथ जाएँगे और उन्हीं पर उसका भविष्य निश्चित होगा। उन कर्मों का फल भी अकेले कर्मकर्त्ता को ही भोगना पड़ेगा। उसमें कोई भागीदार नहीं बनेगा।

ज्ञानी पुरुष यही विचार करता है कि—मैं अकेला आया हूं और अकेला ही जाऊंगा। यहां की एक कौड़ी भी साथ नहीं ले जा सकता। जब साथ में कुछ नहीं जाएगा तो इतनी आसक्ति की क्या आवश्यकता है? इस भावना के चिन्तन से अनासक्ति बढ़ती है और प्राप्त साधनों का सदुपयोग करते संकोच नहीं होता।

यह भी सोचना चाहिए कि संसार के समस्त जीवों का मूल स्वरूप एक-सा है। उनमें जो भी जाति, कुल, तप और सत्ता आदि का भेद दिखाई दे रहा है, वह कर्म कृत हीं है, ईश्वर द्वारा या किसी दूसरे के द्वारा किया हुआ नहीं है। एक रईस और दूसरा सईस दिखाई देता है यह सब अपने ही कर्मों का फल है। एक माल उड़ा रहा है, और दूसरा भूखा नंगा दर-दर भटक रहा है और, भरपेट रोटी भी नहीं पाता। यह भेद क्यों हुआ? यह सब अपने-अपने कर्मों का खेल है।

इस प्रकार का चिन्तन मनुष्य ही कर सकता है, पशु नहीं पशु तो जहां का तहां खड़ा है. मनुष्य विकासशील है। पहले का मनुष्य जंगल में रहता था, आज मनुष्य का आकाश में विचरण करता है। वह मंगल और चन्द्र में प्लाट खरीदने लगा है। पशु पहले भी घास-फूस खाता था, आज भी खाता है। पक्षी पहले भी घौंसला बनाकर रहता था, आज भी रहता है। मनुष्य निरन्तर प्रगति कर रहा है। अपने सुख की वृद्धि के लिये प्रकृति के साथ संघर्ष कर रहा है। यह बात अलग है कि जिसे वह सुख का साधन समझता है, वह वास्तव दुःख का कारण सिद्ध हो जाय कई बार ऐसा होता है। सोने के आभूषण सुख के लिए पहने जाते हैं। मगर कभी-कभी दुःख के कारण सिद्ध होते हैं।

उज्जैन की बात है, एक धोबिन नदी में कपड़े धो रही थी, उसके पैरों में चांदी की कड़ियां थीं। वहां एक चोर आ पहुँचा। उसने उन कड़ियों को निकालने की कोशीस की, मगर जब न निकली और देर लगते देखी तो कुल्हाड़ी से धोबिन के पैर ही काट डाले ? इस प्रकार सोना चांदी पहनने में लोग सुख मानते हैं, परन्तु कभी कभी वह दुःख का कारण भी बन जाता है। अतएव ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि संसार में रहते हो तो विवेक से रहो। जो आत्मा की अपनी सम्पत्ति है वही वास्तव में अपनी है पर-पदार्थ यथार्थ में सुख नहीं दे सकते। उनके राग का त्याग करके कर्मों को नष्ट करने का प्रयत्न करो।

एकत्व भावना का दिग्दर्शन कराते हुए आनन्दघनजी ने एक भजन में कहा है:—

॥ तर्ज भैरवी ॥

आप स्वभाव में रे अवधू, सदा मगन में रहना।
जगत जीव सब कर्माधीना, अचरज कछुय न लीना ॥ टेर ॥
तू नहीं केरा कोई नहीं तेरा, क्यों करे मेरा-मेरा।
तेरा है सो तेरे पासे, ऊबर सभी अनेरा ॥ १ ॥
वपु विनाशी तू अविनाशी, अब है इनको विलासी।
वपु संग जब दूर निकाशी, तब तुम शिव को वासी ॥ २ ॥
राग न रीसा दोय खवीसा ऐ है तुम दुख दीसा।
इनकूं जब तुम दूर करीसा, तब तुम जग का ईसा ॥ ३ ॥
कब ही ककाजी, कबहीक पाजी,
कबहीक हुआ राजी-राजी।
कबहीक जगमें कीर्त्ति गाजी,
सब पुद्गल की बाजी ॥ ४ ॥
पर की आशा सदा निराशा,
ए है जग जन पासा।
वो काटन को करो अभ्यासा,
लहो सदा सुखवासा ॥ ५ ॥
शुद्ध उपयोग ने समताधारी,
ज्ञान ध्यान मनोहारी।
कर्म-कलंक को दूर निवारो,
जीव वरे शिव-नारी ॥ ६ ॥

आनन्दघनजी एक अध्यात्मनिष्ठ सन्त हो गये हैं। वे अपनी आध्यात्मिक वाणी में ध्यान का वर्णन करते हुए बतलाते हैं—हे आत्मन्! तेरा स्वभाव तेरे पास है। वह भिन्न नहीं है,

प्राचीन काल में कभी-कभी राजा का वरण किया जाता था। हाथी की सूंड में माला दे दी जाती थी और हाथी को छोड़ दिया जाता था। हाथी जिसके गले में माला पहना दे वही राजा होता था। जो चाहे वही राजा नहीं बन बैठता था। इसी प्रकार मुक्ति भी प्रत्येक चाहने वाले को नहीं मिलती। वह तो उसी को प्राप्त होगी जो शुद्धोपयोग में रमण करके उत्कृष्ट संवर की आराधना करेगा।

भगवान् महावीर ने फर्माया है-

आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे।
जे धम्मं सुद्धमक्खाइ, पडिपुण्णमणेलिसं॥

अर्थात् हे भव्य जीवों ? मुक्ति रूपी लक्ष्मी उसी के गले में वरमाला डालेगी, जो आत्मगुप्त होगा—जिसने तीन गुप्तियों द्वारा आत्मा का गोपन किया होगा। पांचों इन्द्रियों का दमन कर लिया होगा, पाप आने के समस्त स्रोतों को बंद कर दिया होगा और इस कारण जो आस्रव से रहित हो गया होगा। जो शुद्ध, प्रतिपूर्ण और अनुपम धर्म का कथन करता है। वही साधक मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

जब तक उपर्युक्त गुण आत्मा में पूर्णरूपेण से विकसित नहीं होते, तब तक गले में वरमाला गिरने वाली नहीं है। जब तक जब पुद्गलानन्दी बना हुआ है, आत्मोन्मुख नहीं हुआ है और कीर्त्ति आदि की कामना से रहित नहीं हुआ है, तब तक मुक्ति दूर ही समझना चाहिए। आज तो यह स्थिति है कि हम साधु भी पुद्गलानन्दी बन गये हैं। हम भी कीर्त्ति के लिये खेल खेल रहे हैं। मगर इस ढंग से मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

आत्मकल्याण का यह अत्यन्त अनुकूल अवसर है। इसका लाभ उठाकर पुद्गलों की कामना का परित्याग करना चाहिए और आत्मिक शक्तियों को विकसित करने का पूर्ण यत्न करना चाहिए

चौथा ध्यान शुक्लध्यान है और यही सर्वोत्तम ध्यान है। शुक्लध्यान के प्रभाव से समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं।

इस ध्यान के भी चार भेद हैं। पहले के दो प्रकार के ध्यान चौदह पूर्वो के धारक महामुनियों को होते हैं और अन्तिम दो भेद केवली भगवान् को होते हैं। शुक्लध्यान का चौथा पाया मोक्ष का साक्षात् कारण है।

इस प्रकार दो ध्यान अप्रशस्त और दो प्रशस्त हैं। समयाभाव के कारण इनका विस्तृत विवेचन करना शक्य नहीं है। जिज्ञासु जन इनके स्वरूप को समझें और आत्मबल को बढ़ावें।

अमरसेन वीरसेन चरित्रः—

कल बतलाया गया था कि रानी ने दोनों कुमारों को अपने रास्ते से हटाने का संकल्प किया, उसने कुमारों को कलंक लगा देने का निश्चय करके मन ही मन पूरी योजना तैयार कर ली।

अपनी योजना के अनुसार रानी ने पहनने के वस्त्र फाड़ डाले और शरीर पर जगह-जगह नाखून के निशान बना लिये, चूड़ियां फोड़ डाली, तत्पश्चात् वह कोपभवन में चली गई।

दासियों ने महारानी की यह दशा देखी तो विस्मय में पड़ गई, वह आपस में कहने लगीं—आज रानीजी को यह क्या सूझा

है कि ऐसी अनूठी हालत बनाकर कोपभवन में जा पड़ी हैं, मगर दासियों की क्या मजाल कि महारानी के कार्य में हस्तक्षेप कर सकें ? अतएव वे सब चुपचाप अपने अपने कार्य में लग गईं।

संयोगवशात् उस दिन दोनों राजकुमार महल में नहीं आए।

राजा जयसेन वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर महारानी के महल में पहुँचे तो देखा कि वह लापता हैं। राजा ने इधर-उधर देखा और कहीं दृष्टिगोचर न हुई तो दासियों से पूछा—महारानी कहां हैं ?

दासियों ने हाथ जोड़ कर कहा—महारानीजी कोपभवन में सोई हुई हैं और किसी से बोलती-चालती ही नहीं हैं।

दासियों के मुख से रानी का समाचार सुन कर राजा कोपभवन में गया तो क्या देखता है कि रानी बड़ी बुरी हालत में पड़ी है। जो रानी मेरे आने पर मुस्करा कर स्वागत किया करती थी, आज वह आंख उठा कर भी नहीं देख रही है। आखिर अचानक क्या घटना घटित हो गई ?

आखिर राजा ने सोचा-स्वयं रानी के पास जाकर पूछना चाहिए कि क्यों कोपभवन में प्रवेश किया और क्यों ऐसी हालत बनाई है ? यह सोच कर राजा उसके पास गया और पूछा—प्रिये ! इस कोप का क्या कारण है ? हमेशा की भांति आज न सामने आई, न बोलीं। कोई कारण हो तो कहना चाहिए। क्या ऐसी कोई बात है जो मुझसे भी छिपाने योग्य है ? कहे बिना

पता नहीं लगेगा और जब कारण का ही पता न लगे तो उसका प्रतीकार कैसे हो ?

राजा का कथन सुन कर रानी बैठ गई और आंखों से आंसुओं की धारा बहाने लगी। उसने चेहरा भी ऐसा विषादमय बना लिया कि राजा को कपट का पता ही नहीं चल सके और उसकी बात सच्ची समझ ले। इतना सब करने के बाद भी वह चुप ही रही। जब राजा ने बहुत अनुनय विनय करके कई बार पूछा तो उसने कहा—प्राणनाथ ! आपसे छिपाने योग्य बात ही क्या हो सकती है ? पर क्या करूं, कहते जीभ अटक-अटक जाती है। मन तो यही होता है कि विषभक्षण करके प्राण त्याग दूं। मगर आपकी ओर देखती हूं तो मरने की भी इच्छा नहीं होती। फिर भी लाज-शर्म की मारी मरी जा रही हूं।

राजा ने कहा—ओहो, बात तो बड़ी गम्भीर मालूम होती है। बतलाओ तो सही, हुआ क्या है ?

रानी—नाथ, अच्छा ही हुआ कि परमेश्वर ने मेरी लाज रख ली और कुल में कलंक लगने से बच गया। काली देवी ने मेरी सहायता की।

राजा मन ही मन, बड़े पशोपेश में पड़ कर सोचने लगा-आखिर मामला क्या है ? फिर उत्सुकतापूर्वक पूछा—जो कुछ हुआ है, स्पष्ट रूप से बतलाओ। मैं अवश्य ही उसका प्रतीकार करूँगा। मेरे रहते किसका साहस है कि तुम्हारा अपमा कर सके।

रानी बोली—महाराज, लाज के कारण कुछ कहते भी तो नहीं बनता। इस बात को सुन कर आपके हृदय को भी घोर पीड़ा पहुँचेगी। अतएव मैं चाहती हूं कि दबी हुई बात दबी ही रह जाय। प्रकट न हो तो अच्छा ही है।

राजा ने कहा—जब बात इतनी गम्भीर है तो उसे प्रकट करना ही चाहिए। दिल की व्यथा मुझसे न कहोगी तो किससे कहोगी ? तुम्हें मेरी सौगंद है, जल्दी बतलाओ। मेरा खून उबल रहा है।

जैसे कुशल वकील अपने चातुर्य से गलत बात को भी सत्य सिद्ध कर देता है, उसी प्रकार रानी ने भी ऐसा ढङ्ग बनाया कि शत प्रतिशत झूठी बात सच्ची प्रतीत होने लगे।

भाइयो ! लाहौर हाईकोर्ट में एक बार ऐसा मामला पेश हुआ जो एकदम सच्चा था, मगर वकील ने अपनी दलीलों से उसे झूठा सिद्ध कर दिया। बात यों बनी—एक सेठ अपनी बग्घी में बैठकर सैर करने जा रहा था और स्वयं ही घोड़ों को तेजी से हांक रहा था। कभी-कभी सेठ लोग स्वयं सईस बन जाते हैं और इसमें अपना गौरव समझते हैं। वह सेठ भी इसी प्रकार की मनोवृत्ति का था। वह घोड़ों को सरपट दौड़ाता जा रहा था।

एक बुढ़िया अपने लड़के को साथ लेकर सामने की तरफ से आ रही थी। किसी कारण से यकायक घोड़े भड़क उठे और बहुत प्रयत्न करने पर भी सेठ के काबू में नहीं रहे। वे उस लड़के के ऊपर होकर निकल गये। लड़का घायल होकर वहीं

गिर पड़ा। उसे किसी मर्मस्थान पर आघात लगा और थोड़ी देर में मर गया।

लड़के के गिरते ही लोग वहां जमा हो गये। पुलिस भी घटनास्थल पहुँच गई। बुढिया से सारी कैफियत मालूम करके पुलिस ने सेठ को हिरासत में ले लिया। यथासमय मुकदमा चला बुढिया की तरफ से सरकारी वकील पैरवी कर रहा था और सेठ ने अपना निजी वकील किया था। पेशियों पर पेशियां पड़ने लगीं अन्त में एक बार बहस के लिए एक तारीख मुकर्रर हो गई।

सेठ को मालूम है कि मेरे द्वारा ही लड़के की हत्या हुई है और मैं किसी प्रकार भी बेदाग नहीं छूट सकता। मेरी जीत होना असंभव है। यह सोचकर वह चिन्तित हो रहा था, तभी एक आदमी उसके पास पहुँचा। उसने कहा-सेठ साहब, मेरी बात मानो तो बहस के लिये अमुक आदमी को नियुक्त कर लो, वर्ना आप बच नहीं सकेंगे।

सेठ ने उस वकील को बुलवाया और उसके पैर पकड़कर रोना शुरू कर दिया। वकील के पूछने पर उसने मुकदमे का पूरा वृत्तान्त कह सुनाया और कहा आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप मेरी इज्जत बचाइए?

वकील ने कहा-यह तो स्पष्ट है कि आप के द्वारा ही बच्चे की मृत्यु हुई है। फिर उसके उत्तरदायित्व से कैसे बचा जा सकता है?

सेठ—आपके लिये एक यह कठिन काम नहीं है। कानून में काफी गुंजाइश होती है और इस बात को आप भलीभांति

मुझसे अधिक जानते हैं। आप इस मामले को अपने हाथ में ले लीजिए।

वकील ने कहा-मैं अपनी ओर से पूरा प्रयत्न करूंगा और आशा करता हूं कि आप बच भी जाएँगे, मगर मेरा परिश्रमिक इतने हजार रुपया होगा।

हजार की बात सुनकर सेठ की छाती पर सांप लोट गया, मगर मरता क्या न करता, सेठ ने वकील की मांग स्वीकार करली।

भाइयों ? मालदार लोग धर्म, समाज या जाति के उत्थान के लिए कुछ खर्च करें या न करें, मगर वकीलों एवं डाक्टरों के पीछे तो उन्हें खर्च करना ही पड़ता है।

हां, तो वकील ने सेठ से कहा-सेठजी आपके बचने का एक ही उपाय है और वह यह कि जब अदालत में बहस हो रही हो, आप एक भी शब्द न बोलें। फिर सारे मामले को मैं संभाल लूंगा।

सेठ ने वकील साहब के परामर्श को स्वीकार किया। दूसरे दिन पेशी हुई। बुढ़िया और सेठ भी आकर खड़े हुए। दर्शकों की भीड़ जमा हुई।

हाकिम ने सेठ से पूछा-क्या तुम्हारे घोड़ों से इसके बच्चे की मृत्यु हुई है ? परन्तु वकील की हिदायत के अनुसार सेठ ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया कई बार पूछने पर भी जब सेठ चुप ही रहा तो बुढिया से नहीं रहा गया। वह तुनक कर बोली-हाकिम साहब ! आज तो यह गूंगा बनने का ढोंग कर रहा है, मगर उस

दिन जोर से चिल्ला रहा था–हटो, हटो उसी समय सेठ के वकील ने कहा-महाशय, आप इन शब्दों को लिख लीजिये।

अदालत ने व शब्द नोंध लिये और आखिर उन्हीं के आधार पर सेठ के विरुद्ध अभियोग खत्म कर दिया गया। सेठ बेदाग छूट गया।

तो रानी प्रेमिला ने भी दिल की बात कहने से पहले सारी भूमिका बांध ली। अब रानी किस प्रकार बात प्रकट करती है और किस प्रकार राजा को क्रोध आता है, इत्यादि बातें आगे सुनने से ज्ञात हो सकेगी।

आशय यह है कि जो मानव छल-छिद्र और स्वार्थ की भावना को छोड़ेंगे और अपने जीवन को दूसरों के कल्याण के लिये लगाएँगे, वे इस लोक और परलोक दोनों में सुखी होंगे।

बैंगलोर केन्टोनमेन्ट
ता० १५-६-५६

मन की जलन



प्रार्थना—

महामोहातङ्कप्रशमनपराकस्मिकभिषक्,
निरापेक्षो बन्धुर्विदितमहिमा मंगलकरः ।
शरण्यः साधूनां भवभयभृतामुत्तमगुणो,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥
महावीराष्टकं स्तोत्रं, भक्त्या भागेन्दुना कृतम् ।
यः पठेच्छृणुयाच्चापि, स याति परमां गतिम् ॥



यह भगवान् महावीर की स्तुति है। इस पद्य में कवि श्रीभागचन्द्रजी ने बतलाया है—भगवान् महावीर संसारी जीवों को लगे हुए महामोह रूपी रोग को मिटाने के लिए अकस्मात् मिले हुए भिषक् वैद्य हैं। अन्यान्य बन्धु-बान्धव तो स्वार्थ से प्रेरित होते हैं किन्तु भगवान् निरपेक्ष बन्धु हैं अर्थात् किसी प्रकार के बदले की कामना न करते हुए जगत् के हितैषी हैं। उनकी महिमा तीनों लोकों में विख्यात है। भगवान् जगत् का मंगल करने वाले

हैं अर्थात् जगत् के पापों का विनाश करने वाले तथा आनन्द देने वाले हैं। जो सन्त जन जन्म-जरा-मरण के भय से भयभीत हैं, उनके लिए प्रभु ही एक मात्र शरणभूत हैं। इस प्रकार की असाधारण विशेषताओं से सम्पन्न भगवान् महावीर स्वामी हमारी आंखों के सामने हों।

भाइयो! यह महावीराष्टक स्तोत्र है जो एक-एक श्लोक करके आठ दिनों में आपके समक्ष पढ़ा गया है। इसका निर्माण पण्डित भागचन्द्रजी ने श्रद्धा-भक्ति से प्रेरित होकर किया है। जो श्रद्धावान् पुरुष भक्तिपूर्वक इसे पढ़ता या सुनता है वह परम पद को प्राप्त कर लेता है।

संसार के समस्त प्राणी आठ कर्मों के बन्धनों से बँधे हुए हैं। परन्तु जिन्होंने प्रभु महावीर के चरणों का शरण ग्रहण किया, उनके कर्म कट गए। उनका भवरोग समूल नष्ट हो गया। जब कोई रोगी चिकित्सक के पास जाता है तो वह सर्वप्रथम उसका निदान करता है, अर्थात् यह निर्णय करता है कि इसे अमुक रोग है। जब निदान हो जाता है तब दवा दी जाती है। रोगी की यही कामना होती है और वह यही प्रार्थना करता है कि-आप मुझे ऐसी दवा देने की कृपा करें कि मैं शीघ्र से शीघ्र नीरोग हो जाऊँ। वैद्य भी प्रकृति, देश, काल आदि का विचार करके रोगी को औषध देता है और यदि अन्तरंग कारण अनुकूल हुआ—सातावेदनीय का उदय हुआ, तो रोगी शीघ्र ही चंगा हो जाता है।

इस प्रकार शारीरिक व्याधियों की चिकित्सा करने वाले

वैद्यों की संसार में कमी नहीं है, परन्तु आत्मिक रोगों-कर्मरोगों का निवारण करने वाले तो भगवान् महावीर ही थे।

भगवान् महावीर भिषगाचार्य थे। अनेक चीजों की मिलावट से बनी हुई दवा भेषज कहलाती है, जैसे चूर्ण वगैरह। श्रावक के बारहवें व्रत में औषध के साथ भेषज शब्द अलग व्यवहृत किया गया है। जिस दवा में एक ही चीज होती है, वह औषध कहलाती है। तो भगवान् भिषगाचार्य थे। उनके द्वारा प्रदत्त औषध अमोघ होती थी। जिसने भी उस औषध का प्रसन्नतापूर्वक सेवन किया और पथ्य का पालन किया, निश्चय ही वह नीरोग हो गया। उसकी आत्मा के समस्त विकार दूर हो गए और वह पूर्ण 'स्वस्थ-आत्मस्थ मुक्त हो गया।

कर्मरोग के रोगियों में से भगवान् के पास दवा लेने वाले चौदह हजार मुनि थे और छत्तीस हजार आर्यिकाएँ थीं। इसी प्रकार एक लाख उनसठ हजार श्रावक तथा तीन लाख अठारह हजार श्राविकाएँ थीं। यह सब आध्यात्मिक रोगों की चिकित्सा करवाने के लिए भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए थे, जिन्होंने भगवान् के द्वारा बतलाई हुई विधि के अनुसार दवा ले ली, वे सब मोक्ष के अक्षय सुख के अधिकारी बन गए।

भाइयों! भगवान् निस्पृह भिषक् थे, अतएव उन्होंने अपने परीक्षित नुस्खे गुप्त नहीं रक्खे हैं, बल्कि जगत्हित के लिए सार्वजनिक रूप में प्रकट कर दिये हैं। वह आज भी आगम के पृष्ठों में सुरक्षित हैं। आज भी जो चाहे, उनका सेवन कर सकता है। जो सेवन करता है, उसकी आत्मा के रोग दूर हो जाते हैं। उसका चित्त निर्मल और वाणी पवित्र हो जाती है।

इस प्रकार भगवान् महावीर विश्व का अनुपम मंगल करने वाले थे, भव से भयभीत प्राणियों को अभय देने वाले थे शरणभूत थे, जो भव्य जीव भगवान् की स्तुति करते हैं, अनुराग पूर्वक भगवद्-गुणों का गान, स्तवन और कीर्त्तन करते हैं, भगवान् के गुणों को अन्तःकरण में वरण करते हैं, उनके अन्तर में एक दिव्य ज्योति जगमगाने लगती है। उनकी दृष्टि अलौकिक आलोक से आलोकित हो उठती है। उनके समस्त कल्मष दूर हो जाते हैं, वे समस्त कर्मों को दूर करके परमात्मपद के अधिकारी बन जाते हैं और कृतार्थ हो जाते हैं।

समवायांग सूत्रः—

उन्हीं महाप्रभु महावीर की वाणी समवायांग सूत्र के आधार पर आपके सामने प्रस्तुत की जा रही है, आप उसे ध्यान-पूर्वक सुनें, उस पर मनन करें, आचरण में लाएँ आत्मा को विशुद्ध बनाएँ।

चार ध्यानों के बाद बतलाया गया है-विकथाएँ चार हैं। विरुद्ध कथा अर्थात् जिससे आत्मा का हित न होकर अहित, हो, ऐसी वार्त्ता विकथा कहलाती है। उसके चार भेद हैं- स्त्री कथा भक्त कथा, राजकथा और देशकथा।

नाना देशों की स्त्रियों के रूप, शृंगार, पोशाक आदि की चर्चा करना स्त्रीकथा है। भोजन संबंधी विकथा भक्तकथा है। जैसे—अमुक देश में अमुक खाने की चीज बड़ी बढ़िया बनती है जयपुर का मिश्रीमावा खाने योग्य होता है, माधोपुर के बड़े,

आगरे का पेठा, ब्यावर की तिलपट्टी और अमुक जगह की अमुक चीज अच्छी होती है। इस प्रकार की कथा करने से रसनेन्द्रिय प्रबल होती है और लोलुपता बढती है। कहने वाले और सुनने वाले के चित्त में असंयम की जागृति होती है। विचार आता है- मुझे वहां जाने का अवसर मिलेगा तो मैं उसका मजा लूंगा। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के वार्त्तालाप से स्वाध्याय और ध्यान में बाधा पड़ती है। निरर्थक समय नष्ट होता है।

आज बहुत-से लोग खाने-पीने की चर्चा में अपना समय नष्ट करते हैं। आपस में बातें करते हुए कहते हैं-फलां के विवाह में गये तो मजा आ गया। एक एक चीज इतनी स्वादिष्ट बनी कि आज भी उसकी याद आती है। और वहां गये तो इतना रद्दी भोजन बना कि न पूछिये बात !

इस प्रकार की कथा भक्तकथा है और यह विकथा है। तीसरी राजकथा अर्थात् राजा के नगर आदि में प्रवेश की या निर्गमन की कथा भी विकथा है। यथा-अमुक राजा आया तो बड़ा ही शानदार स्वागत किया गया और उसमें लाखों खर्च हो गये। यहां से प्रधानमंत्री अमुक देश में गये तो उनका ऐसा जुलूस निकाला गया और फलां-फलां मूल्यवान वस्तुएं उन्हें भेंट में दी गई। जब वे लौट कर भारत में आये पालम हवाई अड्डे पर लाखों की भीड़ जमा हो गई। इस प्रकार की बातों में समय व्यतीत करने से कोई लाभ तो नहीं होता, उल्टा मुमुक्षु जीवों की साधना में विघ्न ही पड़ता है।

चौथी देश कथा है। अमुक देश में ऐसा रिवाज है, अमुक

देश में इस ढंग से विवाह की रस्म अदा की जाती है, इस प्रकार से अंन्तिम संस्कार किया जाता है, इस प्रकार देश देश के रीति रिवाज, पहनावा आदि के सम्बन्ध में निरर्थक बातें करना देश विकथा कहलाता है।

आत्मसाधना में निरत साधकों के लिए यह कथाएं अनुपयोगी हैं, अतएव इनसे बचना चाहिए और निरन्तर आत्मसाधना में उपयोगी तत्ववार्त्ता में ही चित्त को लगाना चाहिए। विकथाएं आत्मा को मलीन बनाती हैं और कर्म बन्ध का कारण होती है।

प्रश्न हो सकता है कि यदि स्त्रीकथा विकथा है तो चन्द्र बाला, सीता, द्रौपदी, आदि के चरित्र का व्याख्यान करना भी विकथा में अन्तर्गत क्यों नहीं है? आखिर ये सब स्त्रियां ही थीं। मगर ऐसी बात नहीं है। जो वार्त्तालाप निरर्थक है आत्मसाधना में अन्तराय रूप है, विषय कषाय का पोषक है, वही विकथा में सम्मिलित होता है। जिस वार्त्तालाप से धर्म के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है, सद्गुणों को ग्रहण करने की प्रेरणा मिलती है, जो साधना में साधक है, वह स्त्रीकथा हो अथवा अन्य कोई कथा, विकथा में परिगणित नहीं होती। उदाहरणार्थ-अमुक श्रावक ने आहारदान दिया और संसार परीत कर लिया, इस प्रकार की कथा यद्यपि भोजनकथा है, मगर वह विकथा में सम्मलित नहीं है। यह धर्मकथा है। अमुक राजा बड़ा ही नीतिपरायण और धर्म प्रिय था। उसने तीर्थंकर भगवान् का उपदेश श्रवण कर और विरक्त होकर संयम अंगीकार कर लिया। यह राजकथा भी धर्म कथा है। अमुक देश में धर्मध्यान खूब होता है और तपस्या का ठाठ लगा रहता है। उस देश के लोग धर्मप्रेमी हैं। यह देशकथा

भी विकथा नहीं है, क्यों कि इससे धर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। इस प्रकार की कथाओं से कहने-सुनने वालों को आत्मा का उत्थान होता है। अतएव धर्मकथा करने योग्य है और विकथा त्यागने योग्य है।

इसके बाद संज्ञाएँ चार प्रकार की कही गई हैं। संज्ञा का अर्थ है—अभिलाषा। उसके चार भेद यह हैं-आहारसंज्ञा अर्थात् खाने की इच्छा, भयसंज्ञा अर्थात् भय होना, मैथुनसंज्ञा अर्थात् स्त्री-पुरुष का अपने से विजातीय के प्रति आकर्षण होना तथा नपुंसक का दोनों के प्रति आकर्षण होना और परिग्रहसंज्ञा अर्थात् परवस्तु को ग्रहण करने की इच्छा होना।

यह चारों संज्ञाएँ जानने योग्य हैं और जान कर त्यागने योग्य हैं।

बन्ध भी चार प्रकार का है। आत्मा के साथ कर्मवर्गणा के पुद्गलों का एकमेक हो जाना बन्ध कहलाता है। आत्मा में होने वाले कषाय और योग के व्यापार से, सूक्ष्म और एक क्षेत्र में अवगाढ़ कर्मपरमाणु आत्मप्रदेशों से मिल जाते हैं। वही बन्ध कहलाता है। आत्मा के साथ बन्ध होने से पहले कर्मवर्गणा के दलिकों में स्वभाव की विभिन्नता नहीं होती। बंधने के बाद कुछ दलिकों में ज्ञान को रोकने का, किन्हीं में दर्शन गुण को आच्छादित करने का, किसी में साता-असाता उपजाने का और किन्हीं में सम्यक्त्व-चारित्र का घात करने का स्वभाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार आत्मा के द्वारा गृहीत कर्मों में नाना प्रकार के स्वभाव (प्रकृति) उत्पन्न होना प्रकृतिबंध है। आत्मा के साथ उन कर्मों के बंधे रहने की कालमर्यादा को स्थितिबंध कहते हैं। भिन्न-भिन्न

प्रकृति वाले कर्मों की स्थिति भी भिन्न-भिन्न होती है। उन कर्मों में फल देने की शक्ति की तरतमता उत्पन्न होना अनुभागबन्ध है। कोई कर्म तीव्र फल देता है, कोई मन्द फल देता है, किसी का फल मध्यम होता है। यह अनुभाग या रसबंध है। कर्म के दलिकों का समूह प्रदेशबंध है। एक श्लोक में चारों बन्धों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार कह दिया गया है।

प्रकृतिः स्वभावः प्रोक्तः, स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दलसंचयः॥

इसका आशय ऊपर बतलाया जा चुका है। इन चार प्रकार के बन्धों में से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग के निमित्त से और स्थिति तथा अनुभागबंध कषाय के निमित्त से होते हैं। अतएव योगों का सम्यक् प्रकार से निग्रह करना और कषायों का परित्याग करना ही कर्मबंध से बचने का उपाय है।

आगे कहा गया है—चार गव्यूति का एक जोजन होता है। गव्यूति (गाउ) का प्रमाण यहां उत्सेधांगुल से समझना चाहिए।

अनुराधा नक्षत्र के चार तारे हैं। पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा नक्षत्रों के भी चार चार तारे हैं।

रत्नप्रभा नामक प्रथम नरकभूमि में किसी-किसी नारक की चार पल्योपम की स्थिति है। तीसरे नरक में किसी-किसी नारक की चार सागरोपम की स्थिति है। किसी-किसी असुरकुमार जाति के देवता की स्थिति चार पल्योपम की कही गई है। प्रथम

और द्वितीय देवलोक में भी किसी-किसी देव की स्थिति चार पल्योपम की होती है। भगवान् महावीर के उपासकदशांगसूत्र में वर्णित दसों श्रावकों ने गृहस्थ के बारह व्रत अंगीकार किये थे। वे पौषधशाला में रह कर धर्म की यथावत् परिपालना करके तथा अन्त में समाधिमरण करके प्रथम देवलोक में उत्पन्न हुए। उन दशों श्रावकों की वहां चार चार पल्योपम की स्थिति बतलाई गई है। तीसरे और चौथे देवलोक में किसी-किसी देवता की स्थिति चार सागरोपम की है। जो देव तीसरे-चौथे देवलोक के कृष्टि, सुकृष्टि, कृष्टिपत्र, कृष्टिप्रय, कृष्टियुक्त कृष्टिलेश्य, कृष्टिध्वज कृष्टिशृङ्ग कृष्टिसिद्ध, कृष्टिकूट तथा कृष्टिकावतंसक नामक विमानों में उत्पन्न होते हैं, उनकी उत्कृष्ट चार सागरोपम की स्थिति कही गई है।

चार सागरोपम की स्थिति वाले देव चार पक्ष में श्वासोच्छ्वास लेते हैं। उन्हें चार हजार वर्ष में एक वार आहार करने की इच्छा उत्पन्न होती है।

कोई-कोई भवसिद्धिक जीव ऐसे हैं जो चार भव करके सिद्ध; बुद्ध, मुक्त होंगे, परिनिर्वाण को प्राप्त करेंगे और समस्त कर्मों को नष्ट करके शाश्वत मोक्ष प्राप्त करेंगे।

यहां चार का समवाय पूर्ण होता है और पांचवां समवाय आरम्भ होता है। क्रियाएँ पांच प्रकार की हैं—

(१) कायिकी क्रिया—काया से किया जाने वाला, कर्मबंध का कारणभूत कार्य; जैसे उठना, बैठना, हिलना; चलना, शरीर को संकुचित करना, प्रसारना आदि।

(२) आधिकरणिकी क्रिया-नाना प्रकार के शस्त्रों से होने वाली क्रिया, जैसे बम-गोला, ऊखल, मूसल, घोटा आदि से होने वाली क्रिया। जितने भी यन्त्र या मशीनरी है वह सब अधिकरण हैं और उनके व्यापार से आधिकरणिकी क्रिया लगती है। कल-कारखानों में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की घात होती है। और यह जो कत्लखाने हैं, उनका तो कहना ही क्या है। वहां सैंकड़ों की संख्या में जानवर खड़े कर दिये जाते हैं और बटन दबाते ही उनकी गर्दनों पर एक साथ छुरी चल जाती है और वे कट जाते हैं। तत्पश्चात् मशीन द्वारा उनकी चमड़ी उतारी जाती है। तात्पर्य यह है कि हिंसा के साधन अधिकरण कहलाते हैं और उनके निमित्त से होने वाला सावद्य व्यापार आधिकरणिकी क्रिया कहलाता है।

(३) पाउसिया (प्राद्वेषिकी) क्रिया—मत्सरभाव या द्वेष से की जाने वाली क्रिया। जैसे—मेरे पड़ौसी के पास इतने बंगले क्यों ? इतनी मोटरें क्यों ? इतना वैभव क्यों हो गया ? सब लोग क्यों उसकी पूछताछ करते हैं ? मुझे कोई क्यों नहीं पूछता ? इस प्रकार ईर्षा की आग जब अन्तःकरण में प्रज्वलित होती है तो चित्त की शांति भंग हो जाती है, बेचैनी होती है और जो सुखसाधन व्यक्ति को प्राप्त होते हैं, उनसे भी वह लाभ नहीं उठा सकता। वह दूसरों के उत्कर्ष को देखकर व्यर्थ जलता है, संतप्त होता है और अपनी आत्मा को भारी बनाता है।

सारे संसार में द्वेष का दावानल सुलग रहा है। मनुष्य मनुष्य से, पशु पशु से और देवता देवता से द्वेष कर रहा है। द्वेष की यह दुर्भावना व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है। एक

देश दूसरे देश के प्रति, एक जाति दूसरी जाति के प्रति, एक वर्ग दूसरे वर्ग के प्रति, और एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयायियों के प्रति द्वेष भावना से ग्रस्त हैं। यहां तक कि साधु भी दूसरे साधु के प्रति द्वेष धारण करने से नहीं बच पाये हैं। इस संबंध में एक पुरानी घटना याद आ रही है। वि. सं० १६६० में पूज्य खूबचन्दजी महाराज ने मांडलगढ (मेवाड़) में चातुर्मास किया था। श्रावण, भाद्रपद, आसोज और कार्तिक, चारों महीनों में वहां पचरंगियां हुई। धर्मध्यान के इस ठाठ को देख कर कुछ द्वेषी लोगों ने आपस में कहा-इनके आने से इतना धर्मध्यान क्यों हो गया ? इससे पहले इतनी तपस्या कभी नहीं हुई थीं ?

अब सोचिये कि तपस्या करनेवाले करते हैं और जलने वाले व्यर्थ जलते हैं। जिन्होंने तपस्या की, उन्होंने अपने कर्म क्षय किए, महाराज को क्या दे दिया ? मगर अपनी-अपनी विचारधारा ही जो ठहरी !

ऋषभ चरित्र सुनाते हुए मैंने बतलाया था कि पीठ और महापीठ नामक दो साधु थे। दोनों तपस्या करते थे। दूसरे दो साधु तपस्या न करके दूसरे साधुओं की सेवा करते थे। सेवा करने वाले साधुओं की लोगों में बहुत प्रशंसा होने लगी। उस प्रशंसा को सुनकर वे दोनों तपस्वी साधु उनसे द्वेष करने लगे। वे सोचा करते हम इतनी तपस्या करते हैं, भूख सहन करते हैं, फिर भी हमारी इतनी प्रशंसा नहीं होती और प्रति दिन पेट भर खाने वालों की लोग तारीफ करते हैं ? परिणाम यह हुआ कि सेवा करने वाले तो भरत और बाहुबली के रूप में जन्में और द्वेष करने वाले ब्राह्मी और सुन्दरी बने।

एक कवि आज की परिस्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-

लड़ते-झगड़ते परस्पर भाई,
आपस की सब प्रीति गंवाई।
प्यारी शिक्षा तेरी गमाई,
घृणा ने रंग जमाया ॥ तेरे भारत में ॥१॥
दौर गुलामी छाया तेरे भारत में,
जल्दी कलियुग आया तेरे भारत में ॥टेर॥

श्री फूलचंद्रजी महाराज ने उक्त कविता में समाज का सही चित्र खींचा है। एक माता के उदर से उत्पन्न होने वाले भाई कहलाते हैं, मामा का बेटा भी भाई कहलाता है, स्वधर्मी बन्धु भी भाई कहलाता है, एक राष्ट्र, समाज और जाति के सदस्य भी भाई-भाई होते हैं। फिर भगवान् महावीर का सिद्धान्त तो बहुत ही ऊंचा है। आप लोग प्रातः और सायंकाल प्रतिक्रमण करते समय पढते हैं-

खामेमि सव्वेजीवा, सव्वेजीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ ॥

अर्थात् मैं प्राणी मात्र का मित्र हूँ और प्राणी मात्र मेरे मित्र हैं। मैं सब जीवों को खमाता हूं। सब जीव मुझे क्षमा करें। किसी भी प्राणी के प्रति मेरा वैरभाव नहीं है।

इस प्रकार की उदात्त और विशाल भावना जिसमें प्रकट की गई है, उस पाठ को प्रतिदिन उच्चारण करने वाले भी जब अपने सहोदर भ्राता के साथ लड़ते झगड़ते देखे जाते हैं तो

आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। स्वार्थ में जरा-सी भी बाधा पड़ी कि अपने ही भाई के विरूद्ध अदालत के द्वार खटखटाने दौड़े? इस प्रकार की तुच्छ मनोवृत्ति जहां हो वहां क्या बन्धुभावना विकसित हो सकती है?

जब भाई-भाई छोटे होते हैं तो बड़ा भाई छोटे को कंधे पर उठाता है; मगर जब बड़े हुए, विवाह हुआ, स्त्री आई और बाल-बच्चे हुए और अलग-अलग हो गये तो वही एक दूसरे का सुख नहीं देख सकते। कभी-कभी तो भाई-भाई के बीच बड़े लोमहर्षक काण्ड भी देखे जाते हैं। मर जाना कबूल मगर भाई के घर में पैर नहीं रखना चाहते!

भाईयों! जो तुम दोनों समय सामायिक और प्रतिक्रमण करते हो और 'खामेमि' का पाठ बोलते हो सो क्या सिर्फ बोलने के लिये ही बोलते हो? उस पर अमल करने के लिए नहीं बोलते? और जब तुम अपने भाई से प्रेम नहीं कर सकते तो दूसरों से कैसे कर सकते हो।

दुनियां का कोई भी मजहब लड़ाई झगड़े की हिमायत नहीं करता। ईसा मसीह जैसे भी कहते हैं कि यदि कोई दुश्मन तेरे एक गाल पर तमाचा मारता है तो तू दूसरा गाल उसके सामने करदे! भाइयों सिद्धान्त कितना उत्तम है, पर उसपर कोई चले तब न! आज ईसा के अनुयायी क्या कर रहे हैं? क्या वे आपस में ही एक दूसरे का गला काटने को तैयार नहीं हैं? क्या उन्होंने महायुद्ध ठानकर करोड़ों का संहार नहीं किया?

वैदिक धर्म में कहा गया है-'अद्रोहः सर्वभूतानाम्।'

अर्थात किसी भी प्राणी के प्रति द्रोह न किया जाय। जैन धर्म तो मित्ति मे सव्वभूएसु का आदर्श उपस्थित करता ही है।

इस प्रकार जगत् के सभी धर्म मैत्री, प्रेम करुणा और सहानुभूति का संदेश देते हैं, मगर लोग अपने वैयक्तिक तुच्छ स्वार्थ के लिए धर्म के पावन सिद्धान्तों को उठाकर ताख में रख देते हैं उनकी अवहेलना करते हैं। ऐसा करने से धर्म का तो कुछ बिगड़ने वाला नहीं है लोगों का ही अहित होता है। धर्म के प्रति सिद्धान्तो को जीवन में व्यवहृत नहीं करते तो झगड़े पैदा होते हैं शान्ति नष्ट होती है, बन्ध होता है। पारस्परिक ईर्षा-द्वेष का बाजार गर्म होता है।

जब सब आत्माएं समान हैं तो विषमता का विचार क्यों आता है? मनुष्य तत्त्व का विचार नहीं करते, अन्तर्दृष्टि से नहीं देखते। ऊपरी बातों का, जिनका विशेष मूल्य नहीं होता, विचार करते हैं। कोई कहता है-यह अछूत है, इसे स्थानक में नहीं आने देना चाहिए। मगर ऐसा कहने वाले जड़ को महत्व देते हैं आत्मा को नहीं देखते। अगर हम अपने इतिहास को देखें तो प्रतीत होगा कि भगवान् महावीर के धर्म का द्वार प्राणी मात्र के लिए खुला हुआ था और जिन्हें लोग अन्त्यज एवं श्वपाक कहते हैं, वे लोग भी इस धर्म में दीक्षित हुए थे। शास्त्रकारों की उदारता का विचार तो कीजिये कि उन्हें अत्यन्त आदर के साथ शास्त्रों में स्थान दिया, उनके महान् जीवन को अंकित किया स्पष्ट विधान कर दिया कि मनुष्य में जाति से कोई विशेषता नहीं आती, अगर विशेषता आती है तो तपस्या से आती है।

तो धर्मप्रणेताओं ने धर्म के सिद्धान्त तो अत्यन्त उदार

निर्मित किये, मगर लोग उन पर अमल नहीं करते हैं। एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इसी कारण भीतर ही भीतर द्वेष की आग जलती रहती है।

किसी साधु का उपदेश सुनने के लिए बहुसंख्यक श्रोता एकत्र हो जाते हैं तो द्वेषी लोग कहते हैं—अजी, इसमें क्या रक्खा है। वेश्या का नाच देखने के लिए भी बहुतेरे लोग जमा हो जाते हैं। और जब अधिक लोग एकत्र नहीं होते तो कहते हैं—अरे, उनका उपदेश सुनने जाता ही कौन है ?

भाइयो ! लोग बड़ी तादाद में इकट्ठे हों अथवा न हों, इससे साधु का क्या बनता-बिगड़ता है ? श्रोताओं की संख्या साधु के साधुत्व की कसौटी नहीं है। उसके साधुत्व की कसौटी तो संयम है। अधिक श्रोता होने से साधु तिर नहीं जाएगा और श्रोता नहीं होंगे तो डूब नहीं जाएगा। मगर ईर्षालु लोग इस तथ्य को नजर से ओझल करके हृदय की आग बाहर निकालते हैं। ऐसे लोग करुणा के पात्र हैं।

हां, तो इस प्रकार ईर्षा-द्वेषमय परिणामों से प्राद्वेषिकी क्रिया लगती है। यह न्यूनाधिक रूप में संसारी जीवों को लगती रहती है। परन्तु ज्ञानी जनों का कथन है कि इस क्रिया को समूल नष्ट कर देना चाहिए, क्योंकि इससे आत्मा का घोर अहित होता है। इस क्रिया को जीत लेने से वीतराग भाव उत्पन्न होता है।

(४) चौथी पारितापनिकी क्रिया है। इसका अर्थ है-किसी प्राणी को दुःख पहुँचाना, त्रास देना, पीड़ा देना, संताप पहुँचाना।

एक आदमी किसी को धमकी देता है—'याद रखना, कभी इधर से निकले तो जान से मार दूंगा।' इस प्रकार के शब्द सुनने वाले के हृदय को परिताप पहुँचाते हैं। जब उसे उधर से होकर निकलने का काम पड़ता है तो वह सोचता है—मैं उधर से कैसे निकलूँ। वह जालिम क्रोध में आकर मुझे मार न दे।

आज एक देश के लोगों ने दूसरे देश के लोगों के दिलों में भय पैदा कर दिया है। तरह तरह के बम और प्रक्षेपणास्त्र बना कर एक दूसरे को त्रस्त और परितप्त बना रहा है। देशों में दूसरों को डराने की होड़ सी लग रही है। इस प्रकार या किसी भी अन्य तरीके से दूसरे को संताप देना पारितापनिकी क्रिया है।

(५) पांचवीं प्राणातिपातिकी क्रिया का अर्थ है—प्राणों का अतिपात करना-नष्ट करना। जिस प्राणी को जितने प्राण मिले हैं, जैसे एकेन्द्रिय को चार, द्वीन्द्रिय को छह, त्रीन्द्रिय को सात, चतुरिन्द्रिय को आठ, असंज्ञी पंचेन्द्रिय को नौ और संज्ञी पंचेन्द्रिय को दस, तो इन प्राणों से उस जीव को जुदा करना प्राणातिपातिकी क्रिया है। यद्यपि आत्मा अमर है, त्रिकालस्थायी शाश्वत तत्त्व है, तथापि उसे जो प्राण कर्मोदय के निमित्त से प्राप्त हैं, उन्हें नष्ट करना पाप है।

कौन जीव किस प्रकार और किस-किस प्रयोजन से प्राणातिपात कर रहा है इस विषय का प्रश्न व्याकरणसूत्र में अत्यन्त विशद वर्णन किया गया है।

इस प्रकार पांचों क्रियाओं के स्वरूप को जान कर उनसे सदैव बचते रहने का प्रयत्न करना चाहिए। मन में कभी अशुद्ध

और अपवित्र भाव को स्थान नहीं देना चाहिए। न कभी राग की ओर न कभी द्वेष की वृत्ति को उदित होने देना चाहिए। सदैव समभाव-वीतराग भाव को स्थिर रखने और बढ़ाने के लिए यत्न-शील रहना चाहिए। प्राणी मात्र के प्रति सात्विक मैत्रीभाव को स्थापित करने का यत्न करते रहना चाहिए। कभी किसी को कष्ट पहुँचाने का विचार भी उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। इस प्रकार की स्थायी मनोवृत्ति बन जाने पर आत्मा का परम कल्याण होगा।

अमरसेन-वीरसेन चरित्र—

अभी-अभी आपके समक्ष पांच क्रियाओं के सम्बन्ध में कुछ विचार रक्खे गये हैं। अब उन्हीं क्रियाओं से सम्बन्ध रखने वाला विचार चरित के द्वारा उपस्थित किया जाता है।

दोनों कुमारों की विमाता ने किस प्रकार दुष्ट विचार से प्रेरित हो कर कुमारों को कलंक लगाने का निश्चय किया, किस प्रकार ढोंग रचा, यह पहले कहा जा चुका है। राजा ने रानी के पास जाकर बड़े प्रेम से कहा—प्रिये! अपने मन की बात मुझसे न कहोगी तो किससे कहोगी? और नहीं कहोगी तो उसका प्रतीकार किस प्रकार होगा? बिना कहे मैं तुम्हारे दुःख का निवारण कैसे कर सकूँगा।

यह सब सुन कर रानी ने विचार किया—इस समय राजा मेरे मोह में पागल हो रहे हैं। अब मैं जो भी कहूंगी, वह मंजूर कर लेंगे। फिर भी त्रियाचरित्र दिखलाती हुई वह आंखों से आंसू बहाने लगी।

राजा ने आंसू पोंछते हुए कहा–प्रिये ! अपने दुःख की बात अगर न कहोगी तो मेरे दुःख की सीमा न रह जाएगी। अतएव जो भी बात हो, निःसंकोच हो कर कहो।

तब रानी बोली––प्राणनाथ ! क्या कहूं, कहते लज्जा आती है। समझ में नहीं आता कि अपने घोर अपमान की बात कैसे जीभ से निकालूँ।

ऐसा कहने से राजा की उत्सुकता और अधिक बढ़ गई। रानी यही चाहती थी। उसे विश्वास हो गया कि अब मेरा ढोंग सफल हो जाएगा।

भाइयो ! संसार में जो व्यक्ति सरल होते हैं, वे जल्दी ही ठगाई में आ जाते हैं। राजा भी सरल प्रकृति का था। उसे किसी षड्यन्त्र की कल्पना तक नहीं थी। रानी के प्रति मन में मोह भी था। अतएव उसने रानी पर भरोसा कर लिया।

तो राजा के चित्त को पूरी तरह अपनी ओर आकर्षित करके रानी बोली नाथ ! स्वर्गस्थ प्रेमिला के दोनों लड़के अब जवान हो गए हैं और जवानी में अंधे होकर पागल भी हो गए हैं वे सीधो राह नहीं चल रहे हैं। उक्ति प्रसिद्ध है–

एक जवानी पैसा हो पल्ले,
राम जी चलावे तो सीधा चाले।

भाइयों ! अंधे कई प्रकार के होते हैं। कोई काम से अंधे, कई आखों से अंधे, जवानी से अंधे, धन से अंधे, सत्ता मद से अंधे और क्रोध मान माया लोभ से अंधे। इन कारणों

में से एक या अनेक कारणों से मनुष्य जब विवेकहीन बन जाता है तब वह अंधा कहलाता है।

तो रानी ने कहा-आपके दोनों लड़के कामान्ध बन गए हैं भोगान्ध हो गए हैं। वे दोनों आज शिकारी कुत्ते की तरह महल में आए और शरीर से चिपट गए। महाराज ! तब मैंने जोर से चिल्लाना शुरू किया, मगर उस समय यहां कोई नहीं था जो मेरी आवाज सुनता। तो मेरे चिल्लाने पर भी कोई सहायता के लिए नहीं आया। हाय ! इन सांडो को तनिक भी शर्म नहीं आई ! उन्होंने यह भी नहीं सोचा कि यह मेरी माता है और इसने पुत्र समझ कर हमारी प्रतिपालना की है ! मगर कामान्ध ऐसी बात सोच ही कैसे सकता है। उन पापियों ने कामान्ध होकर मेरे शरीर में से जगह-जगह से खून निकाल दिया ! जब वे अपनी माता से भी न चूके और कुकर्म करने को तैयार हो गये तो नगर की युवतियों का धर्म कैसे बचेगा ? यह पापी भेड़िया कैसे अबलाओं का शील सुरक्षित रहने देंगे ? यही हाल रहा तो प्रजा में असंतोष की आग भड़क उठेगी और अनाचार पैदा हो जाएगा। महाराज ! ये कपूत आपके कुल के कलंक हैं, कृतघ्न हैं और पापाचारी हैं जो अपनी मां पर कुदृष्टि डालते हैं, वे क्या नहीं कर सकते ? इन्हें अब इस घर में और इस नगर में रखने से अपनी अप्रतिष्ठा ही होगी। नाथ, यद्यपि मैं अपने शील की रक्षा करने में समर्थ हो सकी, पर दुनियां जानेगी तो क्या कहेगी मैं कैसे किसी को मुख दिखा सकूंगी ? जी चाहता है कि धरती फट जाय और मैं उसमें समा जाऊं ?

भाइयों ! स्वार्थान्ध होकर मनुष्य कितना गिर जाता है,

यह देखना हो तो इस रानी का चरित देखो। उसने अपने स्वार्थ के लिये निर्दोष और भद्र कुमारों को कितना कलंकित किया? वह आगे फिर कहने लगी—

महाराज! ये दोनों चुप चाप मेरे महल में घुस आए। मैं सावधान न होती तो हाय! मेरी आबरू क्या बच सकी होती? नहीं आत्मघात करने के सिवाय मेरे लिए कोई उपाय ही न रहता। आप भी मुझे जीवित न देख सकते। अब इन पापियों पर मुझे लेश मात्र भी भरोसा नहीं रह गया है ये कब क्या उत्पाद कर डाले, कौन कह सकता है? अतएव मैंने इनके समीप न रहने का निर्णय कर लिया है। अगर आपको पुत्र प्रिय हैं तो उन्हें प्रसन्नता पूर्वक अपने पास रखिए और मुझे जहर मँगवा कर अपने हाथ से दे दीजिये। मैं इस जीवन के लोभ में अपने शीलधर्म पर बट्टा लगना सहन नहीं कर सकती सो या तो वही जिंदा रहें या मैं ही जिंदा रहूंगी।

भाइयों बात कहते-कहते अन्त में रानी ने अपने मनकी अन्तिम बात भी कह डाली। सीधी तरह तो नहीं, परोक्ष रूप में अपनी इच्छा प्रकट कर दी कि कुमारों को जिन्दा न रक्खा जाय।

रानी की कहानी सुनी तो राजा जयसेन के बदन में जैसे आग लग गई। जैसे स्टार्ट करते समय मोटर की खर्र खर्र ध्वनि होती है, उसी प्रकार राजा के मुख से भी इसी प्रकार की अव्यक्त ध्वनि निकलने लगी। क्रोध के तीव्रतर आवेश से राजा कांपने लगा। इस आवेश में उसका विवेक विलुप्त हो गया और वह जैसे उन्मत्त हो गया। उसे यह भी भान न रहा कि रानी की बात

की सत्यता की परीक्षा करना चाहिए और जिन पर गुरुतर आरोप है, उन्हें सफाई देने का अवसर भी देना चाहिए। रागान्ध राजा ने रानी की कल्पित कहानी को केवली की वाणी की तरह असंदिग्ध मान लिया और कुमारों के प्रति अनिष्ट करने का इरादा करने लगा।

भाइयों ! मनुष्य के मनकी यह कितनी बड़ी कमजोरी है कि वह विकारों के वशीभूत होकर उचित अनुचित का भेद भूल जाता है और घोर अनीति तथा अनर्थ करने पर उतारु हो जाता है। ठीक ही कहा गया है:—

क्रोधी महाचंडाल भडक के ऊठे भड़की,
क्रोधी महाचंडाल तड़कने बोले तड़की।
क्रोधी महाचंडाल ऊख्या कर दे राती,
क्रोधी महाचंडाल थर-थर धूजे छाती।
क्रोधी महाचंडाल थाली गिने न कुंडो,
क्रोधी महाचंडाल नरक में जावे उंडो॥

जब चित्त क्रोध से अभिभूत हो जाता है तो मनुष्य को कुछ भी नहीं सूझता। वह न बोलने योग्य वचन बोलता है और न करने योग्य काम कर डालता है। उसकी आकृति भी भयंकर हो जाती है। क्षेत्र अर्थात् कृषि के योग्य भूमि आदि के लिए, वास्तु अर्थात् महल, मकान, बंगला आदि इमारतों के लिए, शरीर के लिए तथा संसार की अन्य सब वस्तुओं के लिए, फिर चाह वे अच्छी हों या बुरी हों मनुष्य क्रोध करता है। इन्हीं चार निमित्तों से मान माया और लोभ किया जाता है।

तो इस चरित्र में यह बतलाया गया कि मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए किस प्रकार दूसरे को झूठा लांछन लगा देता है। इस प्रकार के चरित्र को सुनने और सुनाने का प्रयोजन यही है। कि मनुष्य अपने जीवन की सम्यक् प्रकार के अलोचना करे और उसमें जो बुराइयां दृष्टिगोचर हों, उन्हें दूर करने का भरसक प्रयत्न करे तथा जीवन को सदाचरण की ओर लगावे। मनुष्य को प्रतिदिन ऐसी भावना करनी चाहिए कि मुझसे ऐसा कोई काम न हो जाए, जिससे आत्मा का भविष्य मलीन बने अमंगल हो और दुर्गति के दुःखों की ज्वाला में पड़ कर दग्ध होना पड़े।

तो राजा ने ऐसा कोई विचार नहीं किया और वह एकदम आगबबूला हो गया। उसने रानी को सान्त्वना देते हुए कहा—प्रिये! जो घटना घटित हुई है, वह मेरे लिए असह्य है। तुम्हारे हित और सुख के लिए मैं सभी कुछ करने को तैयार हूं। अब तुम्हीं बतलाओ कि इसका प्रतीकार किस प्रकार करना चाहिए? ये लड़के तो मेरे ही हैं, मगर जो कुछ उन्होंने किया है, उसके कारण मैं उनके साथ कोई रियायत नहीं करना चाहता। तुम्हीं कहो, क्या करने से तुम्हारे चित्त का समाधान होगा?

राजा की बात सुन कर रानी सोचने लगी—मैं स्वयं पाप से बचना चाहती थी और राजा के द्वारा ही कांटों को उखड़वाना चाहती थी, परन्तु इन्होंने मेरे ही मत्थे पाप मढ़ दिया। इस प्रकार सोच कर उसने बड़ी चतुराई से उत्तर दिया—प्राणनाथ! मैं तो आपकी दासी हूं, आपके अधीन हूं। जो बात हुई, आपके सामने रख दी। जो बड़े होते हैं, वही निर्णय करते हैं। इस सम्बन्ध में आप ही जो उचित समझें, करें। आप चाहे टालें या

पालें। मेरा काम आपको कह देने से ही समाप्त हो गया है। आगे की सोचना मेरे अधिकार की बात नहीं है।

भाइयो! कभी कोई बात बिगड़ती दीखती है तो बुद्धिमान् उसे अपनी बुद्धिमता और दूरदर्शिता से संभाल-सुधार लेते हैं। जयपुर के पास ईसरदा नामक एक गांव है। वहां के ठाकुर के दो लड़के थे। बड़े का नाम ईश्वरसिंह और छोटे का नाम माधोसिंह था। एक दिन माधोसिंह ने कहा—हम दोनों भाइयों के अधिकार बराबर हैं, अतएव मुझे जागीर का आधा हिस्सा मिलना चाहिए।

बड़े भाई ने कहा—परम्परा ऐसी नहीं है। परम्परा के अनुसार बड़ा भाई ही राज्य और जागीर का मालिक होता है। अगर भाई-भाई में बराबरी का बंटवारा हो तो राज्य और जागीर के खण्ड-खण्ड हो जाएं।

माधोसिंह ने बड़े भाई की बात नहीं मानी। आखिर मामला कचहरी में पहुँचा। उस समय रामसिंहजी जयपुर रियासत के राजा थे। मुकदमा बहुत दिनों तक चलता रहा और पेशियों पर पेशियां पड़ती रहीं। एक दिन महाराजा रामसिंहजी को इस मुकदमे की बात मालूम पड़ी। उन्होंने गम्भीरतापूर्वक विचार किया—देखो, छोटे-से राज्य के लिए सगे भाई मुकदमेबाजी कर रहे हैं और झगड़ रहे हैं। इन्हें किसी तरह रोकना चाहिए।

महाराज रामसिंहजी अपनी बुद्धिमत्ता एवं व्यवहारकुशलता के लिए प्रख्यात थे। उन्होंने एक दिन दरबार में अपने पारिवारिक जनों के साथ उन दोनों भाइयों को भी बुलाया और उनसे कहा—लो यह कोरा कागज तुम्हारे सामने है! इस पर लिख कर दो कि तुम दोनों के हक में मैं जो फैसला दूंगा, वह तुम्हें मान्य होगा।

महाराजा के कोई सन्तान नहीं थी और सभी जानते थे कि उन्हें कोई उत्तराधिकारी गोद लेना है। परन्तु किसे लेंगे, यह कोई नहीं जानता था।

चाहे महाराजा के ऊपर विश्वास से हो या दबाव से, दोनों ने उन्हें पंच बनाना स्वीकार कर लिया और उनके निर्णय को स्वीकार करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो गए। उसी समय महाराजा ने माधोसिंहजी को उठाकर गोद में बैठा लिया और कहा—मैं तुम्हें जयपुर का राज्य देता हूं। ईश्वरसिंह जागीर का स्वामी हो।

एक कवि ने कहा है—

'माधो' मांगे आधो, 'ईश्वर' देवे न पाव।
जो पुण्य पोते आपणा, तो सारा ऊपर दाव॥

तो रानी भी चतुर थी; यद्यपि उसकी बुद्धि उलटी राह पर चल रही थी। उसने कहा—टालो या पालो। जो आपकी इच्छा हो, वही करो। इस विषय में सलाह देना मेरा अधिकार नहीं है।

भाइयो! कोई किसी का कितना ही अनिष्ट क्यों न करना चाहे, जब तक उसके पुण्य का उदय है, तब तक कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। आगे क्या होता है, यह आगे सुनने से विदित होगा।

जो भव्य प्राणी दूसरे को मिथ्या कलंक लगाने से बचेंगे, उनका परम कल्याण होगा।

बैंगलोर केन्टोनमेन्ट
ता० १६-६-४६

निरालम्ब के आलम्ब



प्रार्थना—

किं कर्पूरमयं सुधारसमयं किं चन्द्ररोचिर्मयम्,
किं लावण्यमयं महामणिमयं कारुण्यकेलीमयम्।
विश्वानन्दमयं महोदयमयं शोभामयं चिन्मयम्,
शुक्लध्यानमयं वपुर्जिनपतेर्भूयाद् भवालम्बनम् ॥



यह तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति है। चिन्तामणिपार्श्वनाथस्तोत्र या कर्पूरमयस्तोत्र के नाम से इसकी प्रसिद्धि है। ग्यारह श्लोकों में इसकी रचना की गई है। स्तोत्र का यह प्रथम श्लोक है।

प्रस्तुत श्लोक में भगवान् पार्श्वनाथ के बाह्य वैभव का भावपूर्ण वर्णन किया गया है। भगवान् की शुक्लध्यानमय मुद्रा किस प्रकार की विशेषताओं से सम्पन्न है? कपूर के समान, अमृत के रस के समान, चन्द्रमा की किरणों के समान, लावण्य की राशि रूप, बहुमूल्य मणि के समान, करुणा रस के प्रवाह के

समान, विश्व के लिए आनन्द रूप, महान् अभ्युदय से सम्पन्न, शोभा से युक्त तथा विशुद्ध चेतनामय, ऐसा भगवद्रूप संसारी जीवों को संसार में आलम्बन रूप हो।

यहां भगवान् के शुक्लध्यानमय शरीर का वर्णन किया गया है, अतएव कपूर, सुधारस, चन्द्रकिरण, आदि श्वेत वस्तुओं से ही उसकी उपमा दी गई है। भगवान् जिनेन्द्र ही संसारी जीवों के लिए एक मात्र अवलम्बन हैं। वीतराग भगवान् के चरणों की नौका का सहारा लिये बिना किसी का भव-सागर से उद्धार नहीं हो सकता। करुणामूर्त्ति प्रभु पार्श्वनाथ हम सब के लिए आलम्बन हों।

भगवान् किस प्रकार करुणापरायण थे, यह बात उनके प्रारम्भिक जीवन की एक घटना से स्पष्ट ज्ञात हो जाती है। यह घटना इस प्रकार है:—

बनारस नगरी में, गंगा के किनारे, कमठ नामक एक तापस धूनी जला कर तपस्या कर रहा था। अज्ञ लोगों को उसके प्रति बड़ी श्रद्धा थी और दूर-दूरतक उसकी ख्याति फैली हुई थी।

तापस की तारीफ राजमहल में भी पहुँची। तब महारानी वामादेवी कुमार पार्श्वनाथ को अपने साथ रथ में बिठला कर तापस के दर्शन करने गईं। यद्यपि पार्श्वनाथ जन्म से ही तीन ज्ञानों के धारक थे और जानते थे कि कमठ की तपस्या बाल-तपस्या है और वह हिंसा कारी होने से आत्मकल्याण का कारण नहीं हो सकती, फिर भी उन्होंने किसी पर यह बात प्रकट नहीं की।

किन्तु जब कुमार पार्श्वनाथ उस तापस के पास पहुंचे और उन्होंने देखा कि यह जिस लक्कड़ को जला कर तपस्या कर रहा है, उसमें सर्प सर्पिणी का एक युगल जल रहा है। यह जानते ही उनके कोमल अन्तःकरण में करुणा का सागर उमड़ पड़ा। वे नाग युगल की पीड़ा को सहन न कर सके। अतएव सबके सामने ही कह दिया बाबाजी आपका यह योग समीचीन नहीं है। इससे आपकी आत्मशुद्धी नहीं होगी। आप धर्म समझ कर जो कर रहे हैं, वस्तुतः वह धर्म नहीं है।

अब तक तापस को दुनिया से प्रशंसा और स्तुति ही मिली थी। किसी ने इस प्रकार के शब्द कहने की हिम्मत नहीं की थी। ऐसे शब्द सुनना तापस की कल्पना से भी बाहर की बात थी। अतएव जब उसने यह शब्द सुने तो अंग अंग में आग भड़क उठी। उसने कहा-राजकुमार! तू नहीं समझता कि मैं योगी हूँ और कठिन तपस्या कर रहा हूँ। क्या मेरा यह कृत्य धर्म नहीं है तो फिर धर्म क्या होगा।

कुमार ने कहा—अगर आप ज्ञानी और तपस्वी हैं तो बतलाइए, यह क्या है?

तापस-बालक! यह लकड़ी है।

कुमार–यह तो सारी दुनिया जानती है, पर इसमें कुछ और है या नहीं?

तापस–लकड़ी में और क्या होता है!

कुमार–होता हो या न होता हो, पर इसमें नाग और नागिन का जोड़ा जल रहा है।

कुमार के इतना कहते ही तापस की आंखें, जो नशे से लाल हो रही थीं, क्रोध से अत्यधिक लाल हो उठीं। वह बोला— झूठ, बिलकुल झूठ।

कुमार ने उपस्थित जनसमूह के साथ लक्कड़ को जो फड़वाया तो नाग-नागिन का जोड़ा अलग जा पड़ा। दोनों प्राणी धुएँ तथा आग की गर्मी से झुलस चुके थे और छटपटा रहे थे।

कमठ को जैसे काठ मार गया। क्रोध की जगह गहरी लज्जा उसके भयानक चेहरे पर परिलक्षित होने लगी। मगर कुमार ने तापस की ओर ध्यान न देकर पहले नाग नागिन पर ध्यान दिया। उन्हें नमस्कारमन्त्र सुनाया। उधर दूसरे लोग तापस को ढोंगी और पाखण्डी कह कर उसका उपहास करने लगे।

वह नाग-नागिन के जीवन का अन्तिम समय था। परिणामधारा नमस्कारमन्त्र में रहने से वे दोनों मर कर देव देवी के रूप में उत्पन्न हुए। देव धरणेन्द्र हुआ, देवी पद्मावती। भगवान् पार्श्वनाथ का भक्तिपूर्वक स्मरण करने वालों की आज भी वे सहायता करते हैं।

अभिप्राय यह है कि भगवान् पार्श्वनाथ के हृदय में करुणा का असीम सागर लहराता था। उनके अन्तर में सम्पूर्ण जगत् के जीवों के प्रति करुणाभाव था उनका बाह्य रूप भी अतिशय रमणीय था। उनके शरीर की असाधारण कान्ति ऐसी अद्भुत थी कि एक ओर समस्त इन्द्र हों और दूसरी ओर भगवान् हों तो समस्त इन्द्रों की शरीरकान्ति भी भगवान् की कान्ति की समता नहीं कर सकती थी। क्योंकि भगवान् की आत्मा अत्यन्त विशुद्ध

थी और वे शुक्लध्यान से युक्त थे ऐसे भगवान् पार्श्वनाथ संसार के जीवों के लिए आलम्बन थे और आज भी हैं। जैसे किसी दुर्बल मनुष्य के लिए ऊंचा ऊंची सीढ़ियों पर बिना सहारे के चढ़ना कठिन होता है, मगर वहां रस्सी बंधी हो तो उसके सहारे मनुष्य चढ़ जाता है। इसी प्रकार यह संसार रूपी समुद्र महान् दुःख रूपी जल से भरा हुआ है और इसे पार करना बहुत मुश्किल है। परन्तु जो प्राणी भगवान् पार्श्वनाथ का अवलम्बन लेते हैं, वे आनन्दपूर्वक भवसागर से पार हो कर मोक्ष मन्दिर में पहुंच जाते हैं।

हमें भी इस संसार में भटकते-भटकते अनन्त काल हो गया है और अब हमारी अभिलाषा भव-सागर से पार होने की है। प्रभु पार्श्वनाथ का हमने आश्रय लिया है। हमारा जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो और सिद्धि का लाभ हो।

समवायांगसूत्र—

मोक्ष प्राप्ति के लिए ही तीर्थंकर भगवन्तों ने धर्म का उपदेश दिया है। उस धर्म का आचरण करने का प्रयत्न करना चाहिए। मगर सच्चे धर्म का आचरण धर्म को समझने पर ही हो सकता है और उसके लिए शास्त्र का पठन श्रवण आवश्यक है। अतएव शास्त्र की वाणी आपको सुनाई जा रही है। समवायांगसूत्र का पांचवां समवाय चल रहा है। कल पांच प्रकार की क्रियाओं के विषय में कहा गया था। आगे बतलाया गया है कि महाव्रत पांच हैं-(१) तीन करण और तीन योग से प्राणातिपात से

निवृत्ति (२) मृषावाद से निवृत्ति (३) अदत्तादान से निवृत्ति (४) मैथुन से निवृत्ति और (५) परिग्रह से निवृत्ति।

भगवान् ने यह पांच महाव्रत फर्माये हैं। प्रत्येक अनगार साधक के लिए इन पांच महाव्रतों का पालन करना अनिवार्य है। साधु इनका पूर्ण रूप में पालन करता है। मगर गृहस्थ साधक की परिस्थितियां ऐसी नहीं होतीं कि वह इनका पूर्णरूपेण पालन कर सके। अतएव वह आंशिक रूप में पालन करता है। इन्हें अणुव्रत की संज्ञा दी गई है।

पांच प्रकार के कामगुण कहे गये हैं-(१) शब्द (२) रूप (३) गंध (४) रस और (५) स्पर्श। पांच इन्द्रियों के विषय ही पांच कामगुण कहलाते हैं। इनमें से दो इन्द्रियों के विषय काम और तीन इन्द्रियों के विषय भोग कहलाते हैं। इस प्रकार पांचों इन्द्रियों के विषय मिल कर काम-भोग कहे गये हैं।

कान का स्वभाव है शब्द सुनना, आंख का स्वभाव है रूप को देखना, नाक का स्वभाव गंध को सूंघना, रसना का स्वभाव रस का आस्वादन करना और स्पर्शनेन्द्रिय का स्वभाव है स्पर्श करना। यही पांच इन्द्रियों के गुण या विषय हैं।

देव, नारक और मनुष्य सब पंचेन्द्रिय ही होते हैं। तिर्यंच जीवों में कोई पंचेन्द्रिय, कोई चतुरिन्द्रिय, कोई त्रीन्द्रिय, कोई द्वीन्द्रिय और कोई एकेन्द्रिय होते हैं।

कामगुणों के प्रति आसक्ति होना दुःख का प्रधान कारण है। इनसे जो जितना विरक्त होता है, उसे उतनी ही शान्ति होती

है—इह भव में और परभव में भी। मगर विरक्ति प्राप्त करने के लिए इनके स्वरूप को भलीभांति समझने की आवश्यकता है।

कान का स्वभाव शब्द श्रवण करने का है। अगर शब्द कान में पड़ेंगे तो उन्हें सुनने से रोका नहीं जा सकता। वे सुनाई देंगे ही। साधु भिक्षा के लिए जा रहा है। हाथी, घोड़ा, ऊंट, बैल, बकरा, कुत्ता, गधा, मनुष्य आदि जीव बोलते हैं या घंटा वीणा आदि अजीव वाद्यों के शब्द होते हैं। यह शब्द साधु के कान में पड़े बिना नहीं रहते और सुनाई दे ही जाते हैं फिर श्रोत्रेन्द्रिय के विषय का त्याग किस प्रकार संभव हो सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कान के द्वारा जो भी मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्द सुनाई देते हैं, उनमें राग द्वेष न करना और समभाव रखना ही श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह है। यही श्रोत्रेन्द्रिय के विषय से विरत होना कहलाता है। कान में शब्द पड़ने मात्र से आत्मा कलुषित नहीं होता कलुषित तब होता है जब मनोज्ञ शब्दों पर रागभाव और अमनोज्ञ शब्दों पर द्वेषभाव धारण किया जाता है। किसी ने आकर प्रशंसा की, स्तुति की तो हर्ष से हृदय खिल उठा है। किसी ने निन्दा की, अपशब्द कह दिये, गाली दे दी, तो दिल में जलन पैदा हो गई। यह राग-द्वेष की वृत्ति है। कर्म बन्ध का कारण है। इससे बचना ही ज्ञानी जनों का कार्य है।

वास्तव में देखा जाय तो वस्तु वस्तु ही है, न कोई बुरी है, न अच्छी। उसमें मनुष्य अपनी राग-द्वेषात्मक मनोवृत्ति से अच्छापन बुरापन आरोपित कर लेता है। जिस पर राग है वह

अच्छी, बढ़िया, सुन्दर प्रतीत होती है जिस पर द्वेष होता है वह बुरी, भद्दी और रद्दी जान पड़ती है। यही कारण है कि एक मनुष्य के लिए जो वस्तु मनोज्ञ है, दूसरे के लिए वही अमनोज्ञ होती है।

शब्द के विषय में भी यही सिद्धान्त लागू होता है जो शब्द आम तौर पर अच्छे माने जाते हैं, वे भी कभी अत्यन्त अप्रिय हो जाते हैं। राम नाम सत्य है' इन शब्दों में क्या बुरापन है ? मगर जब वर घोड़े पर चढ़ कर पाणिग्रहण के लिए जा रहा हो, उस समय यही शब्द क्या अच्छे लगते हैं ? नहीं, अत्यन्त अमनोज्ञ बन जाते हैं। इसके विरुद्ध, सुसराल में दी जाने वाली गालियां भी लोगों को प्रिय लगती हैं। उन्हें सुनकर कोई नाराज नहीं होता, बल्कि प्रसन्न होते हैं। जमाई या सम्बन्धी जीमने बैठता है तो उसे गालियां सुनाई जाती हैं, और वह सुनकर प्रसन्न होता हैं।

तो अभिप्राय यह है कि शब्दों में अपने आपमें कोई बुराई-भलाई नहीं है, लेकिन विभिन्न प्रकार की मनोवृत्ति ही विभिन्न प्रभाव उत्पन्न करती है। अतएव मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपनी मनोवृत्ति को साम्य से परिपूर्ण बनावे और जैसे ससुराल में प्रेम के साथ दी हुई गालियों को सुन लेता है, उसी प्रकार बाजार में क्रोध से दी गई गालियों को भी सहन करने की क्षमता प्राप्त करे।

मगर इस प्रकार की साधना करने वाले विरल ही होते हैं। साधारणतया लोग प्रिय शब्द सुनकर खुश और अप्रिय शब्द सुनकर नाखुश हो जाते हैं। लोगों के जीवन में यह साधना नहीं

है, इसी कारण शब्द उनके चित्त में हर्ष-विषाद उत्पन्न करते हैं। कहा भी है:—

नीकी तो फीकी लगे, बिन अवसर की बात।
फीकी भी नीकी लगे, मौके पर कहि जात।

अप्रासंगिक बात अगर अच्छी हो तो भी खराब लगती है और प्रसंग से बुरी बात भी अच्छी लगने लगती है। मगर ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि हे भव्यात्माओं! जीवन में कैसा भी प्रसंग क्यों न आजाए, कानों में शब्द पड़ने पर मन में राग-द्वेष मत लाओ। राग-द्वेष न लाओगे तो कर्मबंध न होगा। अगर राग द्वेष का भाव उत्पन्न होने दिया तो कर्मबन्ध से बच नहीं सकोगे।

इसी प्रकार नेत्रों का स्वभाव देखने का है। जो भी दृश्य पदार्थ सामने आता है, नेत्रों से वह दिखाई देता है। साधु आंख बंद करके नहीं चलता और चल ही सकता है। फिर भी उन दृश्यों में अच्छे बुरे की कल्पना न करके समभाव धारण करना चाहिए। न किसी पर राग और न किसी पर द्वेष करना चाहिए।

मनुष्य सुरम्य दृश्यों को देखने के लिए दूर-दूर जाता है। वहां के दृश्य देखकर प्रसन्न होता है, अनुराग धारण करता है, कदाचित् दृश्य अच्छे नहीं लगते तो मन ही मन कुढ़ता है और सोचता है–वृथा ही यहां आए! इस प्रकार राग द्वेष के अधीन हो जाता है। यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि बाह्य वस्तुएँ राग-द्वेष करने के लिए नहीं कहतीं हैं, परन्तु अन्दर में बैठा हुआ आत्मा ही उनमें अच्छाई-बुराई का रंग घोल देता है।

सामान्य संसारी ही इस प्रकार की विकृत दृष्टि वाले नहीं कभी-कभी साधुओं तक में यह विकृत भावना देखी जाती है, अपने गच्छ या सम्प्रदाय के साधुओं के आगमन से उन्हें प्रसन्नता होती है तो अन्य गच्छ या सम्प्रदाय के साधुओं के आगमन से अप्रसन्नता होती है, वे उन्हें वहां से टालने की कोशिश करते हैं, मगर यह दृष्टि का दोष है, मन का विकार है ज्ञानी जन प्रत्येक स्थिति में समभाव ही धारण करते हैं, वे जानते हैं कि जो पुद्गल आज एक अवस्था में अच्छे कहलाते हैं वही दूसरी दशा में बुरे कहलाने लगते हैं आज जो बुरे समझे जाते हैं, कल अच्छे-प्रतीत होने लगते हैं। एक मकान टूट-फूटा पड़ा है तो खराब दीखता है और उसे सँवार दिया सुधार दिया और नूतन रूप में निर्मित कर दिया तो लोग कहते हैं—यह तो देवों के रमण करने योग्य स्थान है।

अरे भाई! पुद्गल अपने स्वभाव के अनुसार विविध रूप में परिणति कर रहे हैं। तू उनके निमित्त से क्यों राग-द्वेष करता है और क्यों आत्मा को मलीन बनाता है? केवली भगवान् तीन काल और तीन लोक के सभी पुद्गलों को देखते हैं, मगर देखने मात्र से उन्हें कर्मबन्ध नहीं होता, क्यों कि उनकी दृष्टि में राग-द्वेष का विकार नहीं है। अतएव न आंखों को बंद करने की आवश्यकता है, न छोड़ लेने की, साधक को मात्र यही करना है कि वह जो कुछ भी देखे समभाव से देखे। दृष्टि में रागद्वेष के विष का सम्मिश्रण न होने दे। इस प्रकार देखने पर भी कर्मबंध नहीं होगा।

इसी प्रकार घ्राण का स्वभाव गंध को ग्रहण करना है।

मगर जब कहीं दुर्गन्ध का ग्रहण होता है तो मनुष्य द्वेष करने लगता है, नाक सिकोड़ता है, और जब सुगंध का अनुभव करता है तो प्रसन्न हो उठता है। जिधर से सुगंध आती है, उधर ही भागता है। मगर यह सब कर्मबन्ध का कारण है और विषमभाव का परिचायक है।

रसना इन्द्रिय का स्वभाव रसानुभव करना है। किन्तु जीभ पर जब स्वादिष्ट वस्तु आ जाती है तब उसके प्रति रागभाव जागृत होता है और जब कभी विस्वाद वस्तु का संयोग होता है तो द्वेष रूप विकार उत्पन्न हो जाता है। रस पांच हैं-खट्टा, मीठा, तीखा, कटु और कषायला साधु गृहस्थ के घर भिक्षा के लिए जाता है, वहां उसे नाना प्रकार के रस वाली वस्तुएँ मिलती हैं। कोई रस अनुकूल होता है, कोई प्रतिकूल। मगर साधु की वृत्ति उनके विषय में कैसी होनी चाहिए, यह बतलाते हुए दशवैकालिक सूत्र के अध्ययन पांचवे और गाथा सत्याणवीं में कहा गया है-

तित्तगं व कडुयं व कषायं,
अंबिलं व महुरं लवणं वा।
एय लद्दमन्नत्थ पउत्तं,
महुघयं व भुंजेज्ज संजए॥

द० ५ अ० ६७ गाथा

तीखा, कडुवा, कसायला, खट्टा, मीठा या नमकीन पदार्थ, जो दूसरों के लिए बनाया गया है, जब साधु के पात्र में आ जाय, तो साधु को उसे मधु और घृत की तरह उपयोग करना चाहिए।

आप जानते हैं कि संसार में सभी प्रकार की स्थिति के गृहस्थ होते हैं। किसी की आर्थिक स्थिति अच्छी होती है तो बहुतों की मध्यम और गिरी हुई भी होती है। साधु को सब प्रकार के गृहस्थों के घर मे भिक्षा के लिए जाना होता है। अतएव उसे नाना प्रकार की चीजें मिलती हैं। किसी-किसी घर में ऐसा होता है कि बनाने वाली की असावधानी से दाल में नमक का ही पता नहीं है, या दाल कहीं जारही है तो पानी कहीं जारहा है! परन्तु ऐसी स्थिति में भी साधक को समभाव ही रखना है। चित्त में लेश मात्र भी अरुचिभाव नहीं उत्पन्न होने देना है।

संयमी पुरुष जानता है कि उसे संयम जीवन के लिए खाना है, खाने के लिए नहीं जीना है। किसी प्रकार शरीर टिका रहे जिससे संयमधर्म की आराधना की जा सके, यही उसके भोजन का उद्देश्य है।

आजकल बहुत-से लोग हैं जो खाने के लिए ही जी रहे हैं। खाने के लिए जीने वाले लोग वे हैं जो जिह्वालोलुप हैं और जो जिह्वा की क्षणिक तृप्ति के लिए भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार नहीं करते। जिन्हें पापपुण्य का भी विचार नहीं है और जो जीभ को सन्तुष्ट करने के लिए घोर पापजनक भोजन करने से तनिक भी नहीं हिचकते। आज इसीलिए अन्न का अपमान किया जा रहा है और इस कारण अन्न का अभाव भी होता जाता है। यदि तुम खाने के लिए जीते रहोगे तो याद रखना, दिन प्रति दिन अनाज की परिस्थिति बिगड़ती ही जाएगी, ऐसी संभा-

वना करना अस्वाभाविक नहीं यदि तुम जीने के लिए खाओगे तो प्रकृति अपने-आप तुम्हें देती रहेगी,

हां; तो जीने के लिए खाने वाले की दृष्टि में विकार के बदले ऐसा संस्कार आ जाता है कि वह अच्छी लगने वाली चीज पर राग नहीं करता और बुरी लगने वाली वस्तु पर द्वेष नहीं करता। वह प्रत्येक वस्तु को समभाव से ग्रहण करता है। भोजन को वह स्वाद की कसौटी पर नहीं कसता, वरन् संयम जीवन की कसौटी पर ही कसता है इसी कसौटी से उसकी अच्छाई-बुराई का निर्णय करता है।

कंजेड़ा गांव की एक घटना है। वहां के एक भाई को वैराग्य हो गया। उसकी माता को दीखता नहीं था। एक दिन अंधी माता उसे भोजन परोस रही थी। संयोग से उस समय चूल्हे पर विनौली की हंडिया चढ़ी थी। माता ने उन विनौली को खिचड़ी समझ कर थाली में परोस दिया और थाली लड़के के सामने लाकर रख दी। परन्तु लड़के के हृदय में वैराग्य की ऐसी लहरें उठ रही थीं कि वह उन विनौलों को ही सन्तोष के साथ खा गया।

आशय यह है कि जैसा भी भोजन सामने आ जाय, मस्तक पर सिकुड़न लाये बिना और मुंह बिगाड़े विना खा लेना चाहिए। मगर इस प्रकार की समता बड़ी साधना से आती है। जिसके जीवन में साधना नहीं होती वह रुचि के प्रतिकूल भोजन सामने आते ही नाक-भौंह सिकोड़ लेता है और कभी-कभी थाली उठा कर फैंक देता है। पत्नी या माता पर बरस पड़ता है। मगर

इस प्रकार की वृत्ति विवेक और समझदारी की सूचक नहीं है। अतएव साधक का कर्त्तव्य है कि वह जिह्वा पर नियंत्रण स्थापित करे और राग-द्वेष का परित्याग करके रस के विषय में समभाव धारण करे।

भूलना नहीं चाहिए कि जिह्वेन्द्रिय के संयम पर मनुष्य के जीवन का, विशेष रूप से संयममय जीवन का आधार है। ब्रह्मचर्य की सिद्धी के लिए तो रसनेन्द्रियसंयम अनिवार्य ही है। अतएव स्वादलोलुपता का त्याग करके समभाव जगाना चाहिए।

इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रिय का स्वभाव छूना है। स्पर्श कभी हल्का, भारी, चिकना, खुरदरा, या शीत उष्ण भी होता है। स्पर्श आठ प्रकार के हैं और जब स्पर्शेन्द्रिय के साथ उनका संयोग होता है तो अनुकूल स्पर्श होने पर प्रीति और प्रतिकूल होने पर अप्रीति उत्पन्न होती है। किसी चीज का स्पर्श होते ही मनुष्य बोल उठता है—अरे! कितनी ठंडी है! कितनी गर्म है! कैसी मुलायम है। कितनी भारी या हल्की है, आदि-आदि। और यदि वह मन के अनुकूल हुआ तो प्रसन्न हो उठता है और प्रतिकूल हुआ तो दुःख का अनुभव करता है। परन्तु ज्ञानीजनों का कथन है कि हे साधक! यह स्पर्श यदि तेरे मन को गमते हैं या नहीं भी गमते हैं, तब भी तुझे समभाव रखना चाहिए और चित्त में राग-द्वेष की कलुषता उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। इस प्रकार समता की साधना कर लेने पर तू सहज ही कर्म बंध से बच जाएगा।

तो पांच इन्द्रियां हैं और पांचों इन्द्रियों के पांच विषय हैं, इन सभी विषयों में समभाव रखने से मन को शान्ति मिलती

है, आत्मा में कालुष्य नहीं उत्पन्न होता और इस कारण भविष्य मंगलमय बनता है।

इसके बाद बतलाया गया है कि पांच आश्रवद्वार हैं, अर्थात् कर्मों के आने के पांच द्वार या कारण हैं इनमें पहला आश्रव मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का अर्थ है झूठी श्रद्धा, रुचि या प्रतीति, जब व्यक्ति का दृष्टिकोण गलत होता है, विचारधारा सही नहीं होती, तब उसे उलटी ही उलटी बात सूझती है, वह सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझता है, सर्वज्ञ और वीतराग देव को देव न मानकर रागी-द्वेषी देवी देवताओं के आगे मत्था रगड़ता है। सद्धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझता है, अकिंचन, अनगार और संयमपरायण मुनियों को गुरु नहीं मानता और गांजा सुलफा की दम लगाने वालों को गुरु मानकर उनके चरणों में नतमस्तक होता है, उसे भवभ्रमण बढ़ाने वाला मार्ग सन्मार्ग मुक्तिमार्ग मालूम होता है और मोक्ष-मार्ग रुचिकर नहीं होता।

मिथ्यात्व सब पापों से बड़ा पाप है, क्योंकि इसके होने पर बुद्धि में विभ्रम उत्पन्न हो जाता है और मनुष्य पाप को पाप नहीं समझता, ऐसी स्थिति में दूसरे पापों का निरोध नहीं हो सकता, जब तक आत्मा में मिथ्यात्व रहता है तब तक संसार का किनारा आने वाला नहीं है, मिथ्यात्व के मौजूद रहते जीव का ज्ञान अज्ञान होता है और यदि वह तपस्या आदि क्रिया करता है तो वह भी मिथ्याचारित्र में परिगणित होती है।

मिथ्यात्व बहुत-से जीवों को अनादिकाल से लगा हुआ है और बहुत से जीव ऐसे भी हैं जो एकबार मिथ्यात्व के

अन्धकार से निकलकर सम्यक्त्व के दिव्य आलोक में आए, मगर पुनः उसी अन्धकार में जा पड़े हैं, कोई अज्ञानमिथ्यादृष्टि है, कोई वैनयिक मिथ्यादृष्टि है कोई अभिनिवेशजनित मिथ्यात्व के पंजे में पड़ा है, कोई विपरीतमिथ्यात्व का शिकार हो रहा है तो कोई अनभिगृहीत मिथ्यात्व से विवेकविहीन बन रहा है, इस प्रकार जगत् के अधिकांश प्राणी इस आश्रवद्वार के द्वारा घोर कर्मों का संचय कर रहे हैं।

मिथ्यात्व के कारण मनुष्य की संसार के कामों में जैसी प्रीति है, वैसी धर्मकार्यों में नहीं होती, एकबार गोस्वामी तुलसीदास जब अपनी पत्नी में अत्यन्त आसक्त बन गए थे, तब प्रसंग आने पर उनकी पत्नी ने शब्दों की ऐसी चोट लगाई कि उनके जीवन में आमूल परिवर्त्तन हो गया, उसी दिन से वे राम के भक्त बन गए, उन्होंने रामायण जैसे काव्य की रचना की जो आज भी जनता के हृदय का हार बना हुआ है।

तुलसीदासजी की पत्नी ने कहा था—

जैसे चित्त हराम में वैसो हरि में होय।
चला जाय वैकुंठ को, पला न पकड़े कोय॥

कितनी सीधी, सरल बात है! यह जीव का चित्त जिस लगन के साथ हराम में तत्पर रहता है, उस लगन से अगर परमात्मा की भक्ति में लग जाय तो स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति में क्या रुकावट रह जाए? परन्तु ऐसा हो नहीं रहा है अनादि काल से यह आत्मा संसार के कार्यों में और भोगों में भूला हुआ है और कर्म बन्धन करके बारम्बार जन्म लेता और मरता

है, इसके पापों की कोई सीमा नहीं है इस कारण दु.खों की भी सीमा नहीं हैं, यह सब मिथ्यात्व का दुष्परिणाम है ।

जब मिथ्यात्व दूर हो जाता है तो मनुष्य के अन्तश्चक्षु खुल जाते हैं और समग्र सृष्टि उसे अभिनव रूप में दृष्टिगोचर होने लगती है, जन्मान्ध को सहसा नेत्र प्राप्त होने पर जैसी प्रसन्नता होती है उससे असंख्य गुणित आनन्द एवं शान्ति मिथ्यात्व के दूर होने से प्राप्त होती है, उस समय अनन्तानुबंधी कषायजनित उग्र संताप दूर होने से आत्मा में एक प्रकार की शीतलता आ जाती है। अतएव मिथ्यात्व का त्याग करके सम्य-क्त्व को धारण करना चाहिए ।

दूसरा आश्रव अविरति है, हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म-चर्य और परिग्रह, इन पांच पापों से निवृत्त न होना अविरति है और इनसे भी कर्मों का अवागमन होता है। स्मरण रखना चाहिए कि केवल पाप करने से ही पापकर्म नहीं बँधते, वरन् पाप का त्याग न करने से भी तज्जनित कर्म बन्ध होता रहता है। अतएव पापों का त्याग कर देना आश्रव से बचने के लिए अनिवार्य है। जब तक मकान का दरवाजा खुला रहता है तब तक कूड़ा-कचरा आता ही रहता है, इसी प्रकार जब तक पाप का प्रत्याख्यान नहीं किया जाता, तब तक उस पाप की क्रिया लगती ही रहती है।

मिथ्यात्व की स्थिति में जीव प्रथम गुणस्थान में रहता है उसके दूर होते ही चतुर्थ गुणस्थान की प्राप्ति होती है, तत्पश्चात जब उक्त पापों का एकदेश त्याग किया जाता है तब पंचम गुणस्थान प्राप्त होता है और जब पूर्ण रूप से

परित्याग कर दिया जाता है तो छठे गुणस्थान की प्राप्ति होती है।

मगर सर्वविरति संयम अंगीकार करलेने पर भी प्रमाद नामक तीसरे आश्रवद्वार से पीछा नहीं छूटता। वह छटे गुणस्थान में भी बना रहता है। प्रमाद विवेक की कमी वाले जीवन में होता है। यह प्रमाद भी कर्मों के आश्रव का कारण है। प्रमाद पांच प्रकार के हैं, यथा-

मज्ज विसय-कसाया, निद्दा विगहा य पंच भणिया !
एए पंच पमाया, जीवा पडन्ति संसारे ॥

मद्य, पांच इन्द्रियों के २३ विषय, चार कषाय, निद्रा, और पूर्ववर्णित चार विकथाएं यह पांच प्रकार के प्रमाद हैं। जो मनुष्य इन प्रमादों का सेवन करता है, उसे यह संसार (भवभ्रमण) में गिराते हैं। इन पांचों प्रमादों के पूर्ण रूप से नष्ट होने पर सातवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है।

चौथा आस्रवद्वार कषाय है। कषाय के संबंध में पहले ही कहा जा चुका है। यह आश्रवद्वार दशवें गुणस्थान तक जीव का पीछा करता रहता है।

पांचवां द्वार योग है। दसवें गुणस्थान के पश्चात् कषाय का उदय नहीं रहता। ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय का उपशम रहता है। बारहवां और आगे के गुणस्थान क्षीणकषाय गुणस्थान हैं। अतएव दसवें गुणस्थान के पश्चात् सिर्फ योगप्रवृत्ति के द्वारा ही कर्मों का आश्रव होता है। परन्तु कषाय के अभाव में

स्थितिबन्ध और अनुभाग न होने के कारण इन गुणस्थानों में कर्म आते हैं और प्रदेशों से उदय में आकर क्षीण हो जाते हैं। उनमें न स्थिति पड़ती है, न उनका रस ही भोगना पड़ता है।

मगर जब तक योगों की विद्यमानता है, तब तक कर्मों का आस्रव होता अवश्य है। तेरहवें गुणस्थान में अर्हत् अवस्था प्राप्त हो जाती है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तवीर्यशाली और अनन्त आत्मिक सुख से सम्पन्न हो जाने पर भी योगों की विद्यमानता के कारण वहां प्रकृति और प्रदेशबंध होते रहते हैं। आत्मा जब चौदहवें अयोगीकेवली गुणस्थान में प्रवेश करता है, तब कहीं जाकर आश्रव का सर्वथा निरोध होता है।

पूर्वोक्त आश्रवों का निरोध होना संवर है। आश्रव के समान संवर के भी पांच भेद हैं। मिथ्यात्व का निरोध होने पर जब सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तो मिथ्यात्व का संवर हो जाता है। विरति को अंगीकार करने से अविरति का संवर हो जाता है, अर्थात् अविरति से आने वाले कर्म रुक जाते हैं। इसी प्रकार आगे भी तीन संवर समझ लेने चाहिए। चौदहवें गुणस्थान में योग भी न रहने पर परिपूर्ण संवर की प्राप्ति होती है।

देव गुरु धर्म एवं तत्त्व पर यथार्थ श्रद्धा होना सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व का अद्भुत प्रभाव है। एक वार, सिर्फ अन्तर्मुहूर्त्त जितने थोड़े से समय के लिए भी अगर किसी आत्मा में सम्यग्-दृष्टि जागृत हो जाती है तो भी उस आत्मा के भवभ्रमण की एक सीमा निर्धारित हो जाती है और उसकी मोक्ष प्राप्ति निश्चित हो जाती है।

जैनागमों में बतलाया गया है कि कर्म आठ हैं उनमें से आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति जब असंख्य वर्ष कम एक कोड़ा कोड़ी सागरोपम की रह जाती है, तब जीव हल्के कर्म वाला होता है। तब उसे तीर्थंकर भगवान् की वाणी सुहाती है और तभी उसे सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए आत्मा को बड़ा पुरुषार्थ करना पड़ता है, ग्रन्थिभेद किये बिना सम्यक्त्व नहीं होता, अनादिकाल से आत्मा में राग-द्वेष की एक चिकनी गांठ बंधी हुई है। उसका भेदन करने पर ही सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

शास्त्रों में इस विषय का बड़ा ही विशद वर्णन है, समय-भाव के कारण इस समय उसका विवेचन करना शक्य नहीं है। तथापि इतना तो समझ ही लेना चाहिए कि सम्यक्त्व मोक्षमहल का प्रथम सोपान है और उसे प्राप्त किये बिना जीव मोक्षमार्ग की ओर उन्मुख ही नहीं हो सकता। सम्यक्त्व के आने पर ही देशविरति, सर्वविरति आदि की प्राप्ति होती है। अतएव साधक के लिए सर्वप्रथम निर्मल सम्यक्त्व को प्राप्त करना अनिवार्य है।

राजा श्रेणिक ने अपनी पूर्व जिंदगी में क्या-क्या पाप किये थे, शास्त्र इसकी साक्षी दे रहे हैं। वह दो देवों का स्वामी था। उसकी रानी चेलना सम्यग्दृष्टि थी और धर्म का विचार करने वाली थी, जब कि श्रेणिक अधर्म को ही धर्म समझता था। इस तरह दोनों के विचारों में कोई मेल नहीं था। किन्तु जब उस के कर्म हल्के हुए और अनाथी मुनि का योग मिला तो उसका मिथ्यात्व छूट गया। वह समभाव में आ गया। फिर तो उसको

भावना ऊंची होती ही गई और उसने सोचा-भगवान् महावीर पधारें तो मैं दर्शन करके अपने जीवन को सफल बनाऊं !

एक दिन उसकी भावना सफल हुई। भगवान् के राजगृह नगर में पधार गये। भगवान् के पदार्पण की सूचना पाकर श्रेणिक से हर्ष की सीमा न रही। उसने सूचना देने वाले को निहाल कर दिया। फिर भगवान् का दर्शन और उपदेश श्रवण करने के लिए गया। जब उपदेश सुनकर वापिस लौटा तो अपने राज्य के सारे कत्लखाने बंद करने का आदेश जारी कर दिया। घोषणा करवा दी को मेरे राज्य में किसी जीव की हत्या नहीं की जाय। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से श्रेणिक एक नवकारसी भी नहीं कर सके परन्तु जीवों को अभयदान देकर उन्होंने अपूर्व पुण्य का उपार्जन किया उन्हें वह सौभाग्य मिला जो जगत् के विरल जीवों को ही कभी-कभी मिलता है। अर्थात् श्रेणिक महाराज ने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर लिया।

आज उसी देश में, जिसमें अहिंसा के परम अवतार भगवान् महावीर, करुणासदन महात्मा बुद्ध और श्रेणिक जैसे अहिंसा के पुजारी हुए हैं, स्वदेशी शासन होने पर भी हिंसा की वृद्धि होती जाती है। यद्यपि भारतीय सरकार अहिंसा की दुहाई देती है और समान अधिकारों की बात करती है, मगर उसके व्यवहार इन दोनो बातों के विरोधी हैं। शायद उसकी अहिंसा का संबंध मूक पशुओं के साथ नहीं है। उसकेशासन में पशुओं के जीवित रहने का भी अधिकार प्राप्त नहीं है। यही कारण है कि

आज पहले से भी अधिक कत्लखाने खुल गये हैं और अधिक लोग मांसाहारी बनते जा रहे हैं।

भाइयों! थोड़े दिनों के लिए कोई कितनी ही मनमानी कर ले और मांस खाकर शरीर मोटा बनाले, मगर इसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होगा। अतएव अगर पाप से बचना है तो अपने सम्यक्त्व को विशुद्ध बनाओ।

ज्ञानी जन दुनियां के लोगों को उपदेश देते हुए कहते हैं:—

सब जीव जगत में अपना जीना चाहे,
महाराज किसी को नहीं सतानाजी;
हो जीवों का उपकार वहां कुछ राय बतानाजी।
यह झूठ पाप का मूल कभी मत बोलो,
महाराज! झूठ लिखने नहीं छोड़ाजी;
हो वारों बहु सन्ताप पड़े परभव में फोड़ाजी।
इस जान सांच नित खूब तोल कर बोलो,
महाराज! बोल फिर नहीं बदलनाजी॥ १॥
एहिज धर्म की नाव हुए भवसागर तिरनाजी,
सुन सुणो मोक्ष का पंथ संत फरमावे;
महाराज! जीव की जतना करना है।
एहिज धर्म की नाव हुए भवसागर तिरनाजी॥ टेर॥

जिसकी आत्मा में सम्यक्त्व की ज्योति जाग उठती है वह अनुकम्पा का आगार बन जाता है। उसके अन्तःकरण में शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव सजीव हो

जाते हैं, वह सोचता है-'सब प्राणी जीने की कामना करते हैं, मरना कोई नहीं चाहता।'

अतएव जहां अपने बोलने से जीव के प्राणों की रक्षा होती हो वहां बोलना चाहिए और रक्षा के लिए प्रयत्न करना चाहिए। भाइयो! यही एक धर्म की नाव ऐसी है जिसमें बैठकर आप अपना बेड़ापार कर सकते हैं।

तो जीवन में जब सम्यक्त्व का प्रवेश होता है, तभी कल्याण का द्वार खुलता है और तभी आत्मा को सच्चा हेय-उपादेय का विवेक प्राप्त होता है। तभी उसमें वह समता जागृत होती है, जिसके रस में डूब कर जीव परम साता का अनुभव करता है।

अमरसेन-वीरसेन चरित—

यही बात चरित के द्वारा आपके समक्ष रक्खी जा रही है, बतलाया गया था कि रानी ने दोनों कुमारों के विरुद्ध कितना भयानक जाल रचा और किस प्रकार बनावटी बातों से राजा को बहकाया, रानी की बातों पर रागान्ध राजा ने पूरा विश्वास कर लिया, वह रानी के भवन से तीव्र क्रोधावेश में बाहर निकला और राजसभा में पहुँचा, पहुँचते ही कड़कती हुई आवाज में सेवक से कहा-जाओ!

सेवक को समझते देर नहीं लगी कि अन्नदाता आज खफा हैं, वह जाने को उद्यत हो ही रहा था कि राजा ने दूसरा

आदेश देते हुए कहा—जाओ और भंगी को इसी समय बुलाकर लाओ।

सेवक भंगी को बुलाने चला गया तत्काल उसे अपने साथ लेकर फिर राजा के सामने पहुंचा, राजा ने सेवक को चले जाने का आदेश दिया, सेवक जब चला गया तो चाण्डाल ने हाथ जोड़कर पूछा—अन्नदाता, क्या हुक्म है।

राजा बोला—देखो, आज अंधेरी रात में, दोनों राजकुमारों को, जंगल में ले जाकर कत्ल कर देना और दोनों के मस्तक लाकर मुझे दिखलाना।

आदेश अतिशय कठोर था, सुनकर चाण्डाल का कलेजा भी कांप उठा, मगर बेचारा करता क्या? राजाज्ञा को शिरोधार्य करके चला गया।

भाइयों! राजा प्रजा का पिता कहलाता है, न्याय करना उसका कर्त्तव्य था, जैसे उसने रानी की बात सुनी वैसी राजकुमारों की बात भी सुननी थी, उन्हें अपनी सफाई पेश करने का अवसर मिलना चाहिए था, मगर हा हन्त! रागान्ध जीवों की बुद्धि मारी जाती है। इधर चाण्डाल घर जाकर विषण्ण मुद्रा में बैठ गया और सोचने लगा कितना निष्ठुर है राजा! कौन पाषाणहृदय अभागा ऐसा होगा जो एक साथ अपने दो लड़कों का गला कटवावे! राजा उनका तो राजा है और फिर बाप भी है, इनमें से किसी भी जिम्मेदारी को वह नहीं निभाना चाहता, इसकी अन्तरात्मा में क्रूर पिशाच पैठ गया है, आज वह क्रोध की आग में जल रहा है, फिर पश्चात्ताप की आग में आजीवन जलेगा।

भाइयो ! चाण्डाल हो या भूपाल हो दोनों की आत्मा तो समान है और इसीलिए प्रत्येक की आत्मा फौरन गवाही दे देती है कि यह काम बुरा या भला है। मगर आवेश की अधिकता के कारण कोई उस पर ध्यान दे या न दे, यह अलग बात है।

चाण्डाल सोचता है—राजा का भविष्य कैसा भी हो, मुझे क्या करना उचित है ? आज्ञा का उल्लंघन कर नहीं सकता और निरपराध राजकुमारों की हत्या भी कर नहीं सकता। कितनी बड़ी दुविधा है ! हाय पेट ! इसके लिए कैसे २ अधम कृत्य करने पड़ते हैं।

भाइयो ! एक कवि ने कहा है–

नाच तो नाचत पेट के कारण,
पेट के कारण देत है फांसी।
पेट के कारण जाय विदेश में,
पेट के कारण हो वनवासी।
पेट के कारण लड़े संग्राम में,
पेट के कारण करत खवासी।
सूरी दया कहे पेट के कारण,
वेठ करे नर बुद्धि विलासी ॥

इस पेट की आग को बुझाने के लिए मनुष्य को सभी कुछ करना पड़ता है। पेट की आग कभी बुजती नहीं। मनुष्य सुवह पेठ भरता है तो शाम को खाली और शाम को भरता है तो सुवह में खाली

कुमारों के महल की ओर चल दिया। कुछ ऐसी व्यवस्था करदी गई थी कि चाण्डालों को कुमारों के शयनकक्ष तक पहुँचने में कोई बाधा न पड़ी, वे सीधे वहां जा पहुंचे और कुमारों को जगाकर बोले-आप दोनों खड़े हो जाइए और हमारे साथ चलिए।

दोनों कुमार हक्के-बक्के रह गये। उन्हों ने कहा क्या बात है और हमें कहां ले जाना चाहते हो ?

चाण्डाल बोला यह न पूछिये। चुपचाप चल ही दीजिए।

जब राजकुमार चलने को तैयार न हुए तो चाण्डाल ने कहा- अगर आप चुपचाप चल नहीं देंगे तो हमें जबर्दस्ती करनी पड़ेगी। हम घसीट कर ले जाएंगे ?

कुमारों ने देखा-मामला असाधारण है। तब कहा जहां ले चलना चाहते हो, ले चलो, हमें कोई भय नहीं है। मगर यह तो बतलादो कि आखिर किस प्रयोजन से और किस जगह ले जाना चाहते हो ?

चाण्डाल ने उत्तर दिया-यहां से चल दीजिये। जहां हम ले जाना चाहते हैं, वहीं आपके प्रश्नों का उत्तर मिल जाएगा। हां, इतना समझ लीजिये कि हम जो कर रहे हैं, महाराज के आदेश से कर रहे हैं, वर्ना हमारी क्या हैसियत है जो आपके पास भी फटक सकें। महाराज की आज्ञा हमें और आपको भी मान्य करनी होगी

राजकुमार निर्विकार और निर्भीक थे। अतएव जब इन्हें विदित हुआ कि हम पिताजी की आज्ञा से ही ले जा रहे हैं तो आनाकानी किये बिना ही वह चल दिये। सोचा-आगे जो होगा,

भाइयो ! चाण्डाल हो या भूपाल हो दोनों की आत्मा तो समान है और इसीलिए प्रत्येक की आत्मा फौरन गवाही दे देती है कि यह काम बुरा या भला है। मगर आवेश की अधिकता के कारण कोई उस पर ध्यान दे या न दे, यह अलग बात है।

चाण्डाल सोचता है—राजा का भविष्य कैसा भी हो, मुझे क्या करना उचित है ? आज्ञा का उल्लंघन कर नहीं सकता और निरपराध राजकुमारों की हत्या भी कर नहीं सकता। कितनी बड़ी दुविधा है ! हाय पेट ! इसके लिए कैसे २ अधम कृत्य करने पड़ते हैं।

भाइयो ! एक कवि ने कहा है—

नाच तो नाचत पेट के कारण,
पेट के कारण देत है फांसी।
पेट के कारण जाय विदेश में,
पेट के कारण हो वनवासी।
पेट के कारण लड़े संग्राम में,
पेट के कारण करत खवासी।
सूरी दया कहे पेट के कारण,
वेठ करे नर बुद्धि विलासी ॥

इस पेट की आग को बुझाने के लिए मनुष्य को सभी कुछ करना पड़ता है। पेट की आग कभी बुजती नहीं। मनुष्य सुबह पेठ भरता है तो शाम को खाली और शाम को भरता है तो सुबह में खाली

हां, तो रात हुई और चाण्डाल अपने एक साथी के साथ

कुमारों के महल की ओर चल दिया। कुछ ऐसी व्यवस्था करदी गई थी कि चाण्डालों को कुमारों के शयनकक्ष तक पहुँचने में कोई बाधा न पड़ी, वे सीधे वहां जा पहुंचे और कुमारों को जगाकर बोले-आप दोनों खड़े हो जाइए और हमारे साथ चलिए।

दोनों कुमार हक्के-बक्के रह गये। उन्हों ने कहा क्या बात है और हमें कहां ले जाना चाहते हो ?

चाण्डाल बोला यह न पूछिये। चुपचाप चल ही दीजिए।

जब राजकुमार चलने को तैयार न हुए तो चाण्डाल ने कहा- अगर आप चुपचाप चल नहीं देंगे तो हमें जबर्दस्ती करनी पड़ेगी। हम घसीट कर ले जाएंगे ?

कुमारों ने देखा-मामला असाधारण है। तब कहा जहां ले चलना चाहते हो, ले चलो, हमें कोई भय नहीं है। मगर यह तो बतलादो कि आखिर किस प्रयोजन से और किस जगह ले जाना चाहते हो ?

चाण्डाल ने उत्तर दिया-यहां से चल दीजिये। जहां हम ले जाना चाहते हैं, वहीं आपके प्रश्नों का उत्तर मिल जाएगा। हां, इतना समझ लीजिये कि हम जो कर रहे हैं, महाराज के आदेश से कर रहे हैं, वर्ना हमारी क्या हैसियत है जो आपके पास भी फटक सकें। महाराज की आज्ञा हमें और आपको भी मान्य करनी होगी

राजकुमार निष्पाप और निर्भीक थे। अतएव जब उन्हें विदित हुआ कि हम पिताजी की आज्ञा से ही ले जा रहे हैं तो आनाकानी किये बिना ही वह चल दिए। सोचा-आगे जो होगा,

स्वतः सामने आ जाएगा। दोनों राजकुमार चाण्डाल के साथ रवाना हो गए।

चाण्डाल कुमारों को जंगल में ले गया और जंगल में भी ऐसी जगह जहां लोगों का आवागमन नहीं होता था। वहां पहुँच कर चाण्डाल ने कहा-कुमारो! तैयार हो जाइए! हम आपका शीश उतारेंगे। परमात्मा का स्मरण करना हो तो कर लीजिये।

यह सुनते ही दोनों कुमार चकित रह गए। उन्होंने सोचा अपने जीवन में हमने किसी की कुछ भी हानि नहीं की। न्याय-नीति का उल्लंघन नहीं किया। फिर पिताजी ने हमारे वध का आदेश क्यों दे दिया? मगर इस प्रश्न का उत्तर मांगने का समय ही कहां था? उत्तर मांगते भी किससे? आखिर कुमारों ने सोचा-अब तो यही चाण्डाल हमारे लिए राजा, महाराजा और प्राणदाता हो सकते हैं। कोई उपाय करके इनके दिल में दया का संचार करना चाहिए।

इस प्रकार विचार कर कुमार किस तरह चाण्डालों से बात करते हैं और उनके दिल में दया उपजाते हैं, यह आगे सुनने से ज्ञात होगा। परन्तु भाइयो? बिगड़ी को बनाना भी बुद्धिमानों का काम है। यथा—

एक मनुष्य किसी बगीचे में पहुंच गया और सेव के पेड़ के नीचे बैठ गया। उसने ऊपर की ओर दृष्टि डाली तो उसे एक पका सेव दिखाई दिया! उसका मन ललचा गया। देखा तो इधर-उधर कोई रखवाला नजर नहीं आया। उसने सेव तोड़ लिया।

मगर रखवाला वहां था। और उसने सेव तोड़ते देख लिया वह सामने आ पहुँचा और बोला-सेव क्यों तोड़ा ?

उस व्यक्ति ने सोचा यह यमदूत कहां से आ धमका ? मगर उसने यह भी समझ लिया कि यदि इसका समाधान ठीक तरह न किया गया तो लाठी से मरम्मत कर देगा। अतः वह बोला—मैं पेड़ के नीचे बैठा था कि अचानक यह सेव मेरे सामने आ गिरा। मैंने इसे उठाया और देखने लगा कि यह कहां से गिरा है। पता लग जाय तो फिर वहीं लगा दूं। इसी बीच तुम आ गये और मेरे हाथ में इसे देख कर समझे कि मैंने यह सेव तोड़ा है।

बागवान उस व्यक्ति का उक्तिचातुर्य देखकर हंस पड़ा। प्रसन्न होकर उसने वह सेव उसी को दे दिया।

तात्पर्य यह है कि कभी-कभी वाक्कौशल से भी बिगड़ी बात बन जाती है।

उन राजकुमारों ने किस प्रकार बुद्धिकौशल से काम लिया, यह आगे सुनने से पता लगेगा।

बैंगलोर केन्टोनमेन्ट
ता० १७-६-५६

संवरद्वार



प्रार्थना

पातालं कलयन् धरां धवलयन्नाकाशमापूरयन्,
दिक्‌चक्रं क्रमयन् सुरासुरनरश्रेणीं च विस्मापयन् ।
ब्रह्माण्डं सुखयन् जलानि जलधेःफेनच्छलाल्लोलयन्,
श्रीचिन्तामणिपार्श्वसंभवयशोहंसश्चिरं राजते ॥२॥



भगवान् पार्श्वनाथ के 'किं कर्पूरमय' स्तोत्र के गयारह पद्यों में से यह दूसरा पद्य है. बतलाया जा चुका है कि सब तीर्थंकरों की महिमा समान होती है, अतएव किसी भी नाम से स्तुति क्यों न की जाय, वह संसार-सागर में डूबते हुए प्राणियों को जहाज के समान अवलम्बन रूप होती है, जो प्राणी भगवान् के नाम का अवलम्बन लेता है, वह संसार-सागर से पार हो जाता है ।

प्रस्तुत पद्य में, मनोहर भाषा में, भगवान् पार्श्वनाथ के यश का वर्णन किया गया है, भगवान् का विमल यश हंस के समान धवल है । वह तीनों लोकों में सर्वत्र शोभायमान हो रहा

है, वह पाताललोक को शोभित कर रहा है। इस भूतल को भी अपनी धवलता से धवल बना रहा है, अनन्त आकाश को व्याप्त कर रहा है, पूर्व पश्चिम आदि दशों दिशाओं-विदिशाओं को उल्लंघन कर रहा है, भगवान् के यश की धवलता और विपुलता को देखकर सुर और असुरगण भी चकित रह जाते हैं, वह यश समस्त जगत् के जीवों को आनन्द प्रदान करता हुआ, तथा फेनों के बहाने सागर की जलराशि को चपल बनाता हुआ चिरकाल से शोभित है और रहेगा।

भगवान् पार्श्वनाथ को यहां 'चिन्तामणि' विशेषण दिया गया है। कहते है, चिन्तामणि मनुष्य के सब मनोरथों को पूरा कर देती है, उसी प्रकार भगवान् की भक्ति से समस्त मनोरथ पूरे होते हैं. किन्तु भगवान् की भक्ति में जो विशिष्ट महिमा है, वह चिन्तामणि में नहीं है। भगवद्भक्ति से मनुष्य ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेता है कि उसे प्राप्तकर लेने पर कोई मनोरथ ही शेष नहीं रह जाता, आत्मा अनन्त काल-सदा-के लिए कृतार्थ बन जाता है, इसके अतिरिक्त, चिन्तामणि भौतिक एवं विनश्वर सम्पत्ति ही प्रदान कर सकती है जब कि भगवान् की उपासना से आत्मिक सम्पत्ति का अपरिमित कोष प्राप्त होता है। भगवद्-भक्ति से भक्त स्वयं भगवान् बन जाता है, यह महिमा चिन्तामणि में कहां है? तो जिनका निर्मल यश तीनों लोकों में, समस्त दिशाओं और विदिशाओं में व्याप्त है और जो समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाले हैं, उन भगवान् पार्श्वनाथ को हमारी पुनः पुनः वन्दना है।

भगवान् की स्तुति का प्रधान प्रयोजन यही है कि आत्मा

में लगे हुए विकार नष्ट हो जाएँ और वह शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त दशा प्राप्त कर ले। आत्मा और परमात्मा स्वभावतः सजातीय हैं। जो गुण परमात्मा में हैं वही आत्मा में भी विद्यमान हैं। अन्तर यह है कि परमात्मा समस्त आवरणों से रहित हो गये हैं और इस कारण उनकी आत्मा का विशुद्ध स्वरूप प्रकट हो चुका है, जब कि संसारी आत्मा की शक्तियां आवरणों के कारण दबी हुई हैं और विकृत हो रही हैं, जैसे बादलों के कारण सूर्य का प्रकाश ढक जाता है, उसी प्रकार कर्मावरणों के कारण आत्मा का स्वरुप आच्छादित हो रहा है, कर्म रुपी बादलों के हट जाने पर आत्मा का प्रकाश जगमगाने लगता है और अनन्त ज्ञान, दर्शन, शक्ति तथा आनन्द प्रगट हो जाता है. इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए धर्मसाधना की आवश्यकता है, इसी के लिए चारों तीर्थ प्रयत्नशील हैं, नित्य-नियम करके, भगवान् की स्तुति-प्रार्थना करके, स्वाध्याय तथा ध्यान करके वे उस स्थिति पर पहुँचना चाहते हैं।

समवायांगसूत्र—

शास्त्र में भी इसी तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। कल पांच आश्रवों और संवरों पर विचार किया गया था और बतलाया गया था कि जब मिथ्यात्व हट जाता है तो उसके कारण होने वाला कर्मों का आश्रव रुक जाता है। यह मिथ्यात्व का संवर है। इसी प्रकार जैसे जैसे पापों से विरत होते जाओगे, वैसे-वैसे संवर की प्राप्ति होती जाएगी।

गृहस्थ भी अपनी शक्ति के अनुकूल विरती को अंगीकार कर सकते हैं और कोई-कोई करते भी हैं। उपासकदशांगसूत्र में

दस श्रावकों का जीवन चरित्र वर्णित है। भगवान् महावीर ने उनके त्याग की प्रशंसा की है। जिन अंशों में उन्होंने त्याग नहीं किया था, उस अंश की प्रशंसा नहीं की है। त्यागी त्याग की ही प्रशंसा करेगा, न कि भोग की। भोग उनकी दृष्टि में रोग हैं, अकल्याण है, दुःख है। आज भी बुद्धिमान् लोग धन या धनवान् की प्रशंसा नहीं करते बल्कि जो लोग शुभ कार्य के लिए धन का उत्सर्ग करते हैं, उस उत्सर्ग की प्रशंसा की जाती है। मगर त्यागी जो त्याग करता है, उसे प्रशंसा की कामना नहीं होनी चाहिए। निष्काम भाव से किया हुआ त्याग ही प्रशस्त होता है।

भाइयो! तुम प्रशंसा की अभिलाषा न रक्खोगे तो भी जिनकी दृष्टि में तुम्हारा त्याग आएगा और जो त्याग को उत्तम समझते होंगे, वे स्वभावतः प्रशंसा करेंगे ही। स्वयं तीर्थंकर भगवन्तों ने भी श्रावकों के त्याग की प्रशंसा की है।

इस प्रकार संवर और निर्जरा के लिए की जाने वाली प्रत्येक उचित क्रिया प्रशंसनीय है। उसी से आत्मा का वास्तविक हित होता है। अतएव आप अपनी शक्ति का गोपन न करते हुए व्रतों को अंगीकार करें और संवर की आराधना करें।

तीसरा संवर अप्रमाद है। भगवान् ने प्रमाद का त्याग करने की बड़े प्रभावशाली शब्दों में प्रेरणा की है। अपने परम शिष्य गौतम स्वामी को संबोधित करते हुए पुनः पुनः कहा है—

समयं गोयम ! मा पमायए।

अर्थात्—हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद न करो।

वास्तव में प्रमाद अधर्म है और अप्रमाद धर्म है। साधक को निरन्तर सावधान और जागृत रहना चाहिए। जो साधक ऐसा करते हैं, उन पर कषाय आदि शत्रु हमला नहीं कर पाते। और जब साधक असावधान होता है, तभी कोई न कोई विकार आक्रमण कर बैठता है। इसीलिए कहा गया है कि साधक भारंड पक्षी की भांति अप्रमत्त होकर ही रहे—'भारंडपक्खीव चरेऽप्पमत्ते।'

श्रीमद् आचारांगसूत्र में बतलाया गया है कि जो 'सुत्ता-अमुणिणो मुणिणो सया जागरंति'—सुप्त अर्थात् प्रमत है वह मुनि नहीं है और जो मुनि है वह सदैव जागृत-सावधान-अप्रमत्त रहता है।

प्रमाद से आने वाले कर्म अप्रमाद से रुक जाते हैं, अतएव अप्रमाद-संवर की आराधना आवश्यक है।

चौथा संवर अकषायभाव है। कषायों का निग्रह करना अकषायभाव कहलाता है। किस प्रकार कषायों का निग्रह करना चाहिए, यह भी शास्त्र में बतलाया गया है। श्रीदशवैकालिकसूत्र के आठवें अध्याय की गाथा ३६ में कहा है—

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चऽज्जवभावेणं, लोभं संतोसओ जिणे॥

अन्तरात्मा में क्रोध उत्पन्न हो जाय तो उसे क्षमा से, मान आ जाय तो मार्दव-निरभिमानिता से, मायाचार को सरलता से और लोभ को सन्तोष से जीतना चाहिए।

क्रोध के निमित्त से खून उबलने लगता है। चित्त में आग-सी लग जाती है। उस समय यदि क्षमा का शीतल जल डाल दिया जाय तो क्रोधाग्नि शान्त हो जाती है। किसी ने क्रोध में आकर आपको गाली दी है और आप अधिक क्रोधाविष्ट होकर बदले में गाली देते हैं तो क्रोध की आग भड़कती जाएगी और मामला बढ़ता जाएगा। इसके विपरीत अगर आप गाली देने वाले को अज्ञान या कषायी समझकर क्षमा कर देंगे तो उसका भी क्रोध शान्त हो सकता है और आप तो पाप से बच ही जाएंगे।

उपशम चारित्र का सार है। क्षमा के बिना चारित्र की शोभा नहीं होती। अगर तपस्वी के जीवन में क्षमा की भी प्रधानता हो तो उसकी तपस्या चमक उठती है। उसे तपस्या का परिपूर्ण फल प्राप्त होता है। भगवान् महावीर के उज्ज्वलतर जीवन पर दृष्टिपात करो। प्रचण्ड क्रोध के धारक चण्ड कौशिक सर्प ने भगवान् को डँस लिया। संगम देवता ने लगातार छह मास तक भयानक से भयानक कष्ट पहुंचाए। मनुष्यों ने तरह-तरह से पीड़ाएँ पहुंचाई। मगर एक क्षण भर के लिए भगवान् के चित्त में क्रोध स्थान न पा सका। कष्ट देने वालों पर भी भगवान् ने अपनी करुणा ही प्रदर्शित की। उनका क्षमाभाव सदैव अखण्डित रहा। इसी कारण वे विश्ववंद्य कहलाए और त्रिलोकपूजित बने। अतएव जब भी क्रोध का निमित्त उपस्थित हो, आप क्षमा की महत्ता का चिन्तन करके और भगवान् महावीर के पावन जीवन का स्मरण करके शान्ति धारण करें। इससे आपको परम सुख की प्राप्ति होगी।

इसी प्रकार मृदुता अर्थात् नम्रता धारण करके मान को

जीतना चाहिए। जाति (मातृपक्ष), कुल (पितृपक्ष), बल, रूप, तपस्या, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य में से किसी भी कारण से यदि अभिमान अपना सिर उठाने लगता है तो ज्ञानी पुरुष यही विचार करता है कि–अभिमान का परिणाम कदापि अच्छा नहीं होता, जिस वस्तु का अभिमान किया जाता है, भविष्य में उसकी उत्तमता से वंचित होना पड़ता है। जाति का अभिमान करने से नीच जाति में जन्म लेना पड़ता है। कुल का अभिमान कुलहीनता की प्राप्ति का कारण होता है। बल का गर्व करने वाले भविष्य में दुर्बलता के शिकार होते हैं। ज्ञान का मद करने से अज्ञानी बनना पड़ता है।

इस प्रकार अभिमान के फल का विचार करके ज्ञानी जन अभिमान से बचते हैं।

सनत्कुमार चक्रवर्त्ती ने रूप का अभिमान किया था। बात यों बनी–इन्द्र की सभा में एक वार सनत्कुमार के रूप की प्रशंसा हुई। तब एक देव को उनका रूप देखने की उत्कंठा हुई और वह उनके पास आया। चक्रवर्त्ती के रूप को देखकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने सोचा-रूप की जो प्रशंसा सुनी थी, वह सत्य साबित हुई। फिर वह देव राजसभा में वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण करके पहुंचा और प्रशंसा करने लगा। अपने रूपसौष्ठव की प्रशंसा सुनकर चक्रवर्त्ती फूल गये। उन्होंने कहा- अजी महाराज, यह क्या रूप है। मेरा असली रूप देखना है तो कल इसी समय सभा में आना जब मैं उत्तम वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर बैठा होऊं!

दूसरे दिन सम्राट सनत्कुमार उत्तम से उत्तम वस्त्रों और आभूषणों से अलंकृत होकर सिंहासन पर आसीन हुए और वृद्ध ब्राह्मण नियत समय पर आ पहुंचा! तब चक्रवर्ती ने मुस्करा कर कहा-वृद्ध महाशय, कहिए, अब मैं कैसा दिखाई देता हूं।

वृद्ध ने निस्संकोच कह दिया-महाराज? कलवाली वह बात आज नहीं रही। वह रूप अब नहीं है।

चक्रवर्ती-क्या मेरे श्रींगार में कोई कमी दिखाई दे रही आपको?

वृद्ध-नहीं २ महाराज! आपके शरीर में विकृति आगई है।

चक्रवर्ती कैसे?

वृद्ध-एक पीकदानी मंगवाइए और उसमें थूक कर देखिए। आप स्वय समझ जाएँगे।

तत्काल-एक पीकदानी मंगराई गई। सम्राट ने थूक कर देखा तो उसके विस्मय और विषाद का पार न रहा। थूक में कीड़े बिल-बिला रहे थे।

सनत्कुमार चक्रवर्ती को वैराग्य उत्पन्न हो गया। पुद्गलों के परिणाम की विचित्रता साक्षात् देख कर उनका मन सहसा बदल गया। सोचा-जिस शरीर को देखने के लिए लोग दूर दूर से आया करते थे। और देख कर प्रसन्न होते थे. आज उसकी यह दशा है? ओफ्! इस नश्वर शरीर का कोई भरोसा नहीं, आगे चल कर इसकी क्या स्थिति हो जाएगी!

उसी समय पट् खण्ड का राज्य अपने ज्येष्ठ पुत्र के सिपुर्द करके उन्होंने दीक्षा अंगीकार करली। वे सम्राट् से स्वेच्छापूर्वक अनगार और भिक्षु बन गए।

तात्पर्य यह है कि अभिमान का फल सदा अनिष्ट ही होता है। अतएव ज्ञानी जनों का कथन है कि संसार के पदार्थ आत्मा के लिए पराये हैं और परायी चीज पर अभिमान करना नादानी है।

माया को आर्जव अर्थात् सरलभाव से जीतना चाहिए। आप दुकान पर बैठे हैं। किसी ग्राहक को अच्छी वस्तु दिखा कर बुरी वस्तु दे देते हैं तो यह कपट है। कपट परभव में दुःख का कारण होता है, यही नहीं, इसी भव में उसका दुष्परिणाम सामने आ जाता है। कपटी का विश्वास उठ जाता है। एक बार ठगा जाने वाला दूसरी बार उसके पास भी नहीं फटकता और वह उसके कपट का ढिंढोरा पीट देता है, जिससे बहुतों का विश्वास उठ जाता है। अतएव जैसी वस्तु दुकान में हो उसे दिखा कर अगर आप स्पष्ट कह देते हैं कि–चीज आपके सामने है, लेना हो लीजिए, न लेना हो न लीजिए। और फिर जैसी दिखलाई है वैसी ही देते हैं, तो यह आपका सरलभाव है।

मन, वचन और काय की सरलता से माया पर विजय प्राप्त की जाती है। सरल व्यक्ति के चित्त में संक्लेश नहीं होता और वह निःशंक, निर्द्वन्द्व और निश्चिंत रहता है।

फिर कहा गया है कि लोभ को सन्तोष से जीतना चाहिए। एक कवि ने कहा है–लोभ पाप का बाप वखाना।' सच-

सुच लोभ समस्त पापों का जनक है। अगर 'लोभ' को उलट दिया जाय तो सब का 'भलो' हो जाए। अगर संसार में सर्वत्र सन्तोष का साम्राज्य हो तो यह वसुन्धरा स्वर्ग बन जाए। फिर पुलिस, सेना, न्यायालय आदि की आवश्यकता ही न रह जाय और सब जगह अमनचैन हो जाए।

लोभी मनुष्य स्वयं भी सुख का आस्वादन नहीं कर सकता और दूसरों का सुख भी नहीं देख सकता। उसे जो भी सामग्री प्राप्त है, वह उससे भी अधिक प्राप्त करने के फेर में पड़ कर दिन-रात पचता रहता है। तृष्णा की तरंगों में इधर से उधर टकराता रहता है और कभी चैन नहीं पाता।

जिनका हृदय निर्लोभ है वे अल्प साधनों में भी और कदाचित् साधनों के अभाव में भी सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं। अतएव निर्लोभ वृत्ति से लोभ को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रमाद का चौथा और पांचवां भेद निद्रा और विकथा है। जीवन के लिए समुचित द्रव्यनिद्रा अनिवार्य है, मगर भावनिद्रा से सदैव बचते रहना चाहिए। अज्ञान, मिथ्यात्व, आदि भाव-निद्रा है। विकथाओं के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है।

पांचवां संवर द्वारा योगनिरोध है। यद्यपि योगों की शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की प्रवृत्ति का निरोध करने से ही पूर्ण संवर की प्राप्ति होती है, मगर जब तक इस उच्च स्थिति तक नहीं पहुंचते तब तक अशुभ प्रवृत्ति का निरोध तो करना ही चाहिए। योगों के निरोध का महत्त्व क्या है, यह इसी से समझा

जा सकता है कि योगनिरोध होने पर तत्काल ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

यह पांच संवरद्वार हैं जो मोक्ष के अनिवार्य कारण हैं। जितने-जितने अंशों में संवर की साधना की जाएगी, उतने ही उतने अंशों में कर्म का आश्रव रुकेगा और आत्मा कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होगा।

इसके पश्चात् शास्त्रकार कहते हैं-निर्जरा के पांच स्थानक हैं, यथा-हिंसा, मृषावाद, स्तेय, मैथुन और परिग्रह से विरत होना।

निर्जरा का अर्थ है-कर्मों का झड़ जाना, नष्ट होना, हिंसा-त्याग से कर्मों की निर्जरा होती है, जिस जीव को जितने प्राण मिले हैं, जैसे एकेन्द्रिय को चार, द्वीन्द्रिय को छह, त्रीन्द्रिय को सात, चतुरिन्द्रिय को आठ और पंचेन्द्रिय को नौ दस, उनका व्यरोपण न करना अहिंसा है, अहिंसा निर्जरा का कारण है।

दूसरा स्थान मृषावादविरति है। क्रोध से, लोभ से, भय से और हास्य से असत्य भाषण किया जाता है। शास्त्र में कहा है-

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरिहिओ।
अविस्सासो अ भूआणं, तम्हा मोसं विवज्जए॥

—दशवैकालिक, अ० ६, गा० १२

लोक में समस्त सत्पुरुषों ने मृषावाद की निन्दा की है, इससे विश्वास उठ जाता है, अतएव मृषाभाषण का त्याग विशेष करना चाहिए।

माता-पिता बच्चों को असत्य न बोलने की शिक्षा देते हैं, पंचायत या न्यायालय में भी प्रतिज्ञा दिलाई जाती है कि सत्य ही कहूंगा, सभी धर्मोपदेशक एक स्वर से असत्य को त्यागने की प्रेरणा करते हैं, आश्चर्य है कि आज का व्यवहार प्रायः असत्य के आधार पर चल रहा है, लोगों की कुछ ऐसी भ्रान्त धारणा बन गई है कि असत्य के बिना काम ही नहीं चल सकता, मगर भाइयो ! ऐसा कहना सत्य का अपमान है और सत्य का अपमान भगवान् का अपमान है, क्योंकि सत्य स्वयं भगवान् है—

सच्चं खु भयवं ।

अर्थात्—सत्य ही भगवान् है ।

स्पष्ट है कि सत्य की उपासना ही भगवान् की उपासना है, जब तक आप सत्य से दूर रहेंगे तब तक परमात्मा के पास नहीं पहुँच सकते ।

सत्यवादी का प्रभाव अद्भुत होता है, देवेन्द्र भी उसके चरणों में नतमस्तक होते हैं ।

सत्यनिष्ठ राजा हरिश्चन्द्र को आज भी दुनियां याद करती है, उन्होंने अनेकों संकट सहने पर भी सत्य का परित्याग नहीं किया, ऐसे सत्यवीर जगत् की विभूति हैं, मगर आज असत्य का ही बोलबाला दिखाई देता है, ग्रामों की अपेक्षा नगरों में असत्य का व्यवहार ज्यादा हो रहा है ।

भाइयों एकबार मैंने जयपुर में चौमासा किया था, वहां के लोग कहते हैं-यहां झूठ इतना अधिक फैला है कि जब जयपुर में वह नहीं समाया तो उसके लिए झूठवाड़ा नामक गांव ही अलग बसाना पड़ा, वि० सं० १६७७ में गुरुवर्य श्रीनन्दलालजी म० ने जयपुर में चौमासा किया था, बाहर से एक भाई दर्शनार्थ पहुँचा, उसे पता चल गया था कि यहां झूठ बहुत बोला जाता है; अतएव सावधान था, बाजार में जाकर उसने एक चश्मा खरीदना चाहा, दुकानदार ने उसकी कीमत पच्चीस रुपया बतलाई, जब वह भाई उतनी कीमत देने को तैयार न हुआ तो उसने बीस, पन्द्रह और दस रुपये तक कह दिये, वह भाई अधिक सशंक हो गये और चश्मा खरीदे बिना ही जाने लगा, तब उसने पूछा-आखिर आप क्या देना चाहते हैं ? उस भाई को खरीद करने की इच्छा नहीं रह गई थी, अतएव उसने पिंड छुड़ाने के लिए एक रुपया कह दिया, दुकानदार ने एक रुपये में ही वह चश्मा दे दिया।

आज जयपुर ही क्या, प्रत्येक नगर झूठ का घर बन रहा है, वातावरण इतना दूषित हो गया है कि सत्य का पालन करने वाले कोई विरले ही मिलेंगे, यही कारण है कि प्राचीन काल में इस देश की जो प्रतिष्ठा थी, आज नहीं रह गई है।

विदेशी लोग अन्य दृष्टि से कैसे भी हों, किन्तु व्यापारिक क्षेत्र में वे इस देश के व्यापारियों की अपेक्षा अधिक सत्यनिष्ठ हैं और समृद्धिशाली भी बनते जा रहे हैं। वहां लेने देने में कोई उलझन नहीं होती, भाव-ताव नहीं किया जाता। जैसा नमूना देंगे वैसा ही माल पार्सल से रवाना करेंगे। मगर दुर्भाग्य से धर्म

प्रधान इस देश के अधिकांश व्यापारी असत्य में ही व्यापारिक सफलता का रहस्य समझते हैं। इस कारण भारत की प्रतिष्ठा को बहुत क्षति पहुची है।

आज असत्य का ऐसा दौर चल रहा है कि कोई किसी पर विश्वास नहीं करता। सब यही सोचते हैं कि कहीं मैं ठगा न जाऊं ?

जो भारतवर्ष महावीर, बुद्ध, राम और कृष्ण का देश कहलाता है और जिस देश को इन महापुरुषों ने प्रतिष्ठा बढ़ाई थी उस देश की यह अधोगति देख कर किसे परिताप न होगा ?

जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर रूस गये तो उनका चेहरा देख कर कुछ बच्चे उनके इर्द-गिर्द बैठ गए। उन्हें विश्वास था कि हिन्दुस्तानी बड़े अच्छे होते हैं और झूठ-चोरी से परहेज करते हैं। रवीन्द्र बाबू ने उन बच्चों से पूछा—तुम लोग क्या देख रहे हो ?

बच्चों ने पूछा-आप कहां से आए हैं और कौन हैं ? रवीन्द्रनाथ ने कहा-हम हिन्दुस्तानी हैं और हिन्दुस्तान से आए हैं।

यह उत्तर सुनकर बच्चों के चेहरे खिल उठे। यह देख रवीन्द बाबू के नेत्रों में पानी छलक आया। उन्होंने सोचा—हमारे पूर्वजों ने देश की इतनी इज्जत बढ़ाई है कि ये बच्चे भी हिन्दुस्तानी का नाम सुन कर प्रेम से उसे देखने लगते हैं और उससे मिलने में अपना गौरव समझते हैं। परन्तु आज के हमारे देश के लोग असत्य-आचरण के द्वारा उस इज्जत को खो रहे हैं।

सार यह है कि पहले के भारतीयों ने दूर-दूर तक अपनी प्रामाणिकता का सिक्का जमाया था। एक अमरीकी डाक्टर दिल्ली में मेरे व्याख्यान में आया। उसने भाषण करते हुए कहा-मैंने जैनशास्त्र और इतिहास का अध्ययन किया है। मैं सोचता था कि इस देश के लोगों का जीवन बहुत ऊंचा होगा। जिस देश में गीता, उपनिषद्, जैनशास्त्र आदि पढ़े जाते हैं, वहां की जनता का जीवन उच्चकोटि का होना चाहिए। अतएव भारत आने की मेरी बड़ी इच्छा थी। मैं आया, बम्बई, मद्रास आदि नगरों में घूमता हुआ यहां आया हूँ। मगर यहां के जीवन में उन शास्त्रों का कोई असर नजर नहीं आया। महात्मा गांधी ने अहिंसा और सत्य के आचरण द्वारा देश को स्वाधीनता दिलवाई, परन्तु उनकी हत्या करने वाले भी इस देश में मौजूद हैं।

तो जब से देश में सदाचरण में कमी आई है, तभी से यह देश अवनति की ओर बढ़ता जा रहा है। इसे पुनः उन्नत बनाना है तो सत्य, निर्लोभता, निष्कपटता आदि गुणों की जीवन में प्रतिष्ठा करनी होगी।

भगवान् ने सत्य पर बहुत जोर दिया है और कहा है-हे भव्यात्माओं ! अगर तुम अपनी आत्मा के कर्म विकारों की निर्जरा करना चाहते हो तो सत्य का आचरण करो, सत्य की उपासना करो, सत्य को सर्वोपरि समझ कर उसी को अपने जीवन का आधार बनाओ।

जहां जीवन में कोई कमी है, वहीं भय है। तेरा भय ही तुझे मार देगा। तेरे पाप ही तुझे मारते हैं। सर्वप्रथम मृषावाद के पाप को हटाओ। मृषावाद जहां नहीं है, भय भी वहां नहीं है।

इसी प्रकार अदत्त को ग्रहण न करना भी निर्जरा का स्थान है। मैथुन और परिग्रह से विरत होना भी निर्जरा का कारण है। अतएव अपनी आत्मा को कर्मों के भार से हल्का करने के लिए निर्जरास्थानों का सेवन करना चाहिए।

अमरसेन-वीरसेन चरित—

यही बात चरित द्वारा आपको समझाई जा रही है। कल बतलाया गया था कि चाण्डाल दोनों कुमारों को निर्जन जंगल में ले गए और बोले—भगवान् का स्मरण करना हो तो कर लो, हम आपका मस्तक काटेंगे।

कुमारों ने पूछा—भाइयो, यह तो बतलाओ कि हमने अपराध कौन-सा किया है?

चाण्डाल बोला—यह नहीं जानते। महाराज का हुक्म है और हम हुक्म बजाना ही जानते हैं। अच्छा-बुरा सोचना स्वामी का काम है और स्वामी के आदेश का पालन करना सेवक का कर्त्तव्य है।

आखिर कुमारों के नयनों से नीर बहने लगा। उन्होंने कहा-हमने किसी का कोई नुकसान नहीं किया, किसी को कष्ट नहीं पहुँचाया, फिर क्यों दण्ड दिया जा रहा है? पिताजी हमारी बात सुनने को यहां मौजूद नहीं है। अभी तो आप ही पिता के समान हैं आप चाहें तो हमें बचा सकते हैं। मगर हमारे प्राण बच जाएँगे तो जिंदगी भर आप लोगों का ऐहसान मानेंगे।

आपको दो निर्दोष मनुष्यों को प्राणदान का पुण्य होगा। इस पुण्य से आपकी भी रक्षा होगी, क्योंकि-

वने जने शत्रुजलाग्नि मध्ये,
महार्णवे पर्वतमस्तके वा।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा,
रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि॥

अगर पुण्य पोते में है तो वह मौत के मुंह में गए हुए की भी रक्षा कर लेता है। ऐसे विषम अवसर पर, जब कि माता-पिता ही अपने पुत्रों के प्राण लेने को तत्पर हो गए हैं पुण्य के सिवाय और कौन रक्षक हो सकता है ?

तो राजकुमार कहते हैं—भाइयो, तुम धर्म को मानने वाले हो और जब तुम्हीं हमारे प्राण लेने को उद्यत हो गये हो तो धर्म कहां रहेगा ? अगर चाहो तो हमारे प्राण बचा कर उपकार कर सकते हो और पुण्य कमा सकते हो।

ज्ञानी पुरुष मानव को चेतावनी देते हुए कहते हैं—

ये तन ये धन ये बल बुद्धि ये समर्थ सब थोग।
करना हो तो कर लो भला फिर ऐसा मिले कब जोग रे॥
कलियुग का मानव मानो मानो मानो मानो रे।
थाने परभव निश्चय जानो जानो जानो जानो रे॥

पूज्य खूबचन्दजी म० ने उक्त पद्य में कहा है—अरे मानव ! जरा कहना मान ले। भगवान् का कहना मान, राजा का मान,

किसी न किसी का तो कहना मान ! मान लेगा तो सुखी हो जाएगा। परन्तु यदि अपने मन से निरंकुश होकर चलता जाएगा तो इस लोक में और परलोक में भी नुकसान उठाएगा। देखो, जब तक हाथी अंकुश के वश में रहता है तब तक उससे किसी को भय नहीं रहता। जब वह निरंकुश बन जाता है तो लोगों का नुकसान करता है और अगर किसी भी उपाय से वशीभूत नहीं होता तो गोली से उड़ा दिया जाता है या कठोरतर यातनाओं का पात्र बनता है।

हे मानव ! तुझे समर्थ और नीरोग शरीर मिला है तो इससे दूसरों का भला कर। अगर तू शरीर से भला नहीं कर सकता तो तेरा शरीर पाना किस काम का ? और यदि इस शरीर से किसी का अहित करता है तो समझ ले कि तू अपने अमंगल का द्वार खोल रहा है, अपने पांव पर आप ही कुल्हाड़ा मार रहा है। अतएव तुझे जो भी शारीरिक या बौद्धिक बल प्राप्त है, उसे जनता की भलाई के लिए अर्पित कर दे। यही उस बल की सार्थकता है, इसी में तेरी भी भलाई है।

बुद्धि का बल बड़ा बल है और उसका सदुपयोग भी किया जा सकता है और दुरुपयोग भी हो सकता है। किसी को मारने-काटने के लिए भी लोग बुद्धि लड़ाते हैं और मरते को बचाने में भी लगाते हैं।

एक बार चित्तौड़ शहर में इन्तजाम के लिए एक स्थानकवासी जैन हाकिम मुकर्रर हुए। शहर के समीप ही दो बड़ी-बड़ी नदियां आ गई हैं। उधर से एक सड़क गुजरती थी। जिस समय

की यह बात है, उस समय रेलपथ नहीं था। जो फौजें आतीं, उनका पड़ाव वहां लगता था। फौजी लोग नदियों में मछलियां पकड़ते थे। स्थानकवासी जैन हाकिम को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने सोचा-मेरे रहते यह पाप नहीं होना चाहिए। उन्होंने गम्भीरता के साथ समस्या पर विचार किया। तत्पश्चात् सब जातियों के मुखिया जनों को बुलवाया और कहा-भाइयो ! यहां आये दिन निरपराध जीवों की हत्या होती है। उसे रोकने का कुछ उपाय करना चाहिए।

लोगों ने कहा—हाकिम साहब ! हत्या को बुरा मानने पर भी हम लोग क्या कर सकते हैं ? हमारे पास कोई सत्ता नहीं है। कैसे मछलियों की हिंसा को रोक सकते हैं ?

हाकिम सा० ने कहा-आप प्रजाजन हैं। चाहें तो सभी कुछ कर सकते हैं।

प्रजाजन-हमारी बुद्धि इस विषय में कुछ काम नहीं कर रही है। आप ही कोई उपाय बतलाइए। हम उसे करने को तैयार हैं।

हाकिम सा०- मैं उपाय बतलाता हूँ। ऐसा करो कि तुम लोग वहां एक देवस्थान बनवा लो और पूजापाठ शुरु कर दो। मैं तुम्हारी इस कार्रवाई में हस्तक्षेप नहीं करूंगा। यह सब हो जाने के पश्चात् एक आवेदन पत्र मुझे लिख कर दे देना कि इस स्थान पर गांव वालों का मन्दिर है, पूजापाठ होता है। अतएव इस धर्म स्थान के आस पास जीवहिंसा नहीं होनी चाहिए।

यह उपाय सभी को पसंद आया। लोगों ने हाकिम सा० के कथनानुसार देवमन्दिर का निर्माण करवा लिया और अर्जी लिख कर दे दी। हाकिम साहब ने वह अर्जी अपनी अनुकूल सिफारस के साथ महाराणा साहब को भेज दी कि एकलिंगजी महाराज के आसपास किसी भी जीव की हिंसा नहीं होनी चाहिए यह भी लिख दिया कि गांव वालों के संतोप के लिए शीघ्र स्वीकृति मिलनी चाहिए।

अर्जी महाराणा साहब की सेवा में पेश हुई वे एकलिंगजी के परम भक्त थे ही। फौरन आदेश दे दिया कि इस स्थान पर कोई जीवहिंसा नहीं कर सकेगा।

तात्पर्य यह है कि हाकिम साहब ने अपने बुद्धि बल से जीवों की हिंसा का कार्य रुकवा दिया जो हजारों रुपया खर्च करने पर भी संभव नहीं हो सकता था।

मगर आज के शासन के लिए क्या कहा जाए ? आज हिंसा का बोल बाला है। सरकार मत्स्योऽद्योग के लिए लाखों करोड़ों रुपया नष्ट कर रही है। जगह-जगह बूचड़खाने भी खोले जा रहे हैं। प्रतिदिन अनगिनत पशुओं का वध हो रहा है मगर एक कवि ने ठीक ही कहा है:—

जो सताए औरों को, वह भी सताया जायगा।
जो जलावे और को वह भी जलाया जायगा।

कांटा जब पैर में लगता है तो लोग कहते हैं- टूट गया परन्तु टूट गया तो क्या हुआ, तू भी तो तकलीफ पाएगा ? प्रति

दिन बोले जाने वाले आलोचनापाठ में पक्खी के दिन कहा जाता है-

दुःख दियां दुख होत है, सुख दियां सुख होय।
आप हने नहिं और को, ताको हने न होय ॥

अगर आपने किसी को दुःख पहुंचाया है तो आपको भी दुःख उठाना पड़ेगा। अगर दूसरे को दुःख न दोगे तो आपको भी दुःख न होगा।

तो आपको भी तनबल और बुद्धिबल मिला है, इसे महान् वरदान समझो। सदुपयोग करना है तो कर लो, अन्यथा फिर यह अवसर मिलने वाला नहीं है। जो अवसर चला जाता है, फर हाथ नहीं आता। फिर तो पछताना ही शेष रहता है, मगर उससे भी बिगड़ी बात सुधरती नहीं है।

हां तो उन राजकुमारों ने अपने बुद्धिबल का उपयोग करके चाण्डालों के हृदय में देवता को जगाने का प्रयत्न किया। राजकुमार बड़े ही सुशील थे और प्रजा में अत्यन्त प्रिय थे। कभी किसी को उनके विरुद्ध कोई शिकायत पैदा नहीं हुई थी। चाण्डाल भी इस तथ्य से भलीभांति परिचित थे और राजकुमारों के प्रति उनकी हार्दिक सहानुभूति थी। अतएव जब राजकुमारों के सामने कोई चारा नहीं रहा तब उन्होंने चाण्डालों के चित्त में अनुकम्पा जगाने का यत्न किया। चाण्डालों का दिल भी पसीज गया। उनकी अन्तरात्मा में भगवती दया ने प्रवेश किया। वे विचार में डूब गए।

चाण्डालों ने विचार किया-यह छोटी उम्र के बालक हैं और राजा का इन्होंने कोई कुसूर भी नहीं किया है, बिना अपराध किसी को साधारण दण्ड देना भी अनुचित है तो प्राणदण्ड जैसा भयानक दण्ड देना कैसे उचित कहा जा सकता है ?

भाइयो ! यह भी बुद्धि की करामात है, करना याद है तो बात, अन्यथा विलापात ! अकबर के जमाने की बात है। किसी गांव में एक मनुष्य रहता था, उसके विषय में यह प्रसिद्ध था कि प्रातःकाल कोई उसका मुँह देखले तो दिन भर भोजन न मिले, आज भी कई गांवों के विषय में ऐसी धारणा देखी जाती है, उस व्यक्ति का नाम उगमण सेठ था।

लोगों ने एक दिन सोच कर निश्चय किया-इस सेठ की सरकार से शिकायत कर दी जाए, सब लोग बादशाह अकबर के पास पहुँचे और बोले-जहांपनाह ! हमारे गांव में एक ऐसा आदमी है कि उसका सुबह में मुँह दिख जाता है तो दिन भर भोजन नहीं मिलता। अतएव या तो आप उसी को रखिए या हम लोगों को रखिए।

बादशाह गम्भीर व्यक्ति था, उसने उत्तर दिया-भाइयो ! हमने आपकी अर्जी सुन ली है, इस पर गौर करके मुनासिब कार्रवाई की जाएगी।

लोग अपने-अपने घर चले गए, तत्पश्चात् बादशाह ने उस व्यक्ति को अपने पास बुलवाया, बादशाह ने सोचा-पहले इसकी जांच कर लेना चाहिए, जांच किये बिना किसी को सजा दे देना मुनासिब नहीं है। मैं स्वयं ही इसका मुख देखूंगा और

यदि दिन भर खाना न मिला तो शिकायत सच्ची समझूंगा, फिर इसे गांव से निकाल दूंगा।

बादशाह ने उस आदमी को अपने शयनागार में ही सुलाया; प्रातःकाल निद्राभंग होने पर बादशाह ने उसी का मुँह देखा, बादशाह अपने नित्यकर्म से फारिग हुए तो बेगम ने कहा-जहांपनाह! नाश्ता तैयार है।

नाश्ता करने की तैयारी में ही था कि बादशाह को एक अनिवार्य कार्य से अपने कार्यालय में चला जाना पड़ा, जब दोपहर के भोजन का समय आया तब भी बादशाह भोजन न कर सका और समय निकल गया। यह देख अकबर बादशाह के मन में आया कि लोगों की शिकायत सही है; ऐसे मनहूस आदमी को फांसी की सजा दे दी जानी चाहिए।

यह खबर उस आदमी को मिली तो वह विचार में पड़ गया, उसकी समझ में नहीं आया कि मेरा क्या कुसूर है जिसके लिए मुझे फांसी दी जा रही है। किन्तु मरने से पहले बचने की कोशिश तो करनी चाहिए।

आखिर वह आदमी बीरबल के पास गया, बोला-अन्नदाता! मेरा कुसूर यही है कि मेरा मुख देखने वाले को भोजन नहीं मिलता, इसके लिए बादशाह सलामत ने मुझे फांसी पर लटकाने का हुक्म दे दिया है। इस दण्ड से बचने के लिए आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूं, आप ही मुझे इस संकट से बचा सकते हैं।

बीरबल बड़े ही चतुर व्यक्ति थे, उन्होंने कहा-भाई, जब बादशाह का हुक्म हो चुका है तब मैं क्या कर सकता हूं ? पहले मालूम हो जाता तो कुछ प्रयत्न किया जा सकता था।

उस व्यक्ति ने गिड़गिड़ा कर कहा—हुकम हो जाने पर भी आप चाहेंगे तो अपने अद्भुत बुद्धिकौशल से बचालेंगे, मैं आपसे प्राणों की भीख चाहता हूं. आप मुझ जैसे निरपराध की रक्षा न करेंगे तो आपका कौशल किस काम आएगा ?

किसी भी वस्तु की सार्थकता इसी में है कि वह दूसरों की भलाई में काम आवे। अन्यथा उसका होना और न होना समान है।

विचार करने पर बीरबल के दिल में उसके प्रति हमदर्दी पैदा हो गई। उन्होंने कहा—देखो, मैं प्रयत्न करूँगा।

बीरबल औत्पत्तिकी बुद्धि से सम्पन्न थे। उन्होंने उसे समझा दिया कि बादशाह के सामने पेश होने पर तुझे क्या कहना होगा।

दूसरे दिन पेशी हुई। लोगों को इस मामले में बड़ा कुतूहल था, अतएव बड़ी भीड़ लग गई। बादशाह ने फांसी का हुक्म देते हुए कहा-तेरे दिल में कोई ख्वाहिश हो तो कह दे।

उस आदमी ने कहा—हुजूर ! आपका हुक्म हो तो जनता से मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूं।

बादशाह ने अनुमति दे दी तो उसने जनता की ओर

मुखातिब होकर कहा—ऐ मेरे प्यारे नगरनिवासियो ! आपको मालूम है कि एक मिनिट बाद ही मुझे फासी पर लटक जाना है। मेरा अपराध यह है कि मेरा मुँह देखने से बादशाह सलामत को दिन भर खाना नहीं मिला। मगर ध्यान से सुनो कि जहांपनाह का मुख तो मेरे मुख से भी ज्यादा मनहूस है। मैंने आज ही सुबह उनका मुँह देखा और आज ही मैं फांसी पर चढ़ रहा हूं।

बादशाह ने यह बयान सुना तो हक्काबक्का रह गया। सोचा—इसने तो मुझे बिना मौत ही मार दिया। मैं बुरी तरह बदनाम हो जाऊँगा। इस बदनामी को मिटा देना ही मुनासिब है। यह सोच कर बादशाह ने अपना हुक्म मंसूख कर दिया।

हुक्म मंसूख होते ही उसने प्रसन्नतापूर्वक कहा-भाइयो ! बादशाह सलामत का मुंह देखने का ही यह नतीजा है कि फांसी पर चढ़ते-चढ़ते मैं बच गया।

जो सुबह-सुबह जहांपनाह का मुंह देखता है, वह भारी से भारी संकट से भी बच जाता है।

तो यह सब बुद्धि की करामात है। बुद्धिबल से बिगड़े हुए काम भी सुधर जाते हैं। उन दोनों राजकुमारों ने भी घोर संकट के समय बुद्धि का उपयोग किया और चाण्डालों के फौलादी दिल में दया पैदा कर दी। आगे क्या होता है, यह आगे सुनने से पता चलेगा।

बैंगलोर केन्टोनमेन्ट
ता० १८-६-५६

दिल का मलहम



प्रार्थना

पुण्यानां विपणिस्तमोदिनमणिः कामेभकुम्भे सृणि-
र्मोक्षे निस्सरणिः सुरेन्द्रकरिणी ज्योतिःप्रकाशारणिः।
दाने देवमणिर्नतोत्तमजनश्रेणिः कृपासारिणी,
विश्वानन्दसुधाघृणिर्भवभिदे श्री पार्श्वचिन्तामणिः ॥३॥

卐卐

यह 'किंकर्पूरमय' स्तोत्र का तीसरा पद्य है। यहां भगवान् श्रीपार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए उनकी महिमा का प्रतिपादन किया गया है। भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति, आराधना एवं भक्ति से लोकोत्तर पुण्य की प्राप्ति होती है। भगवान् अज्ञान-मिथ्यात्व का निवारण करने के लिए सूर्य के समान थे। कामवासना रूपी मदोन्मत्त हाथी को वशीभूत करने के लिये अंकुश के समान थे। मोक्ष में जाने के लिए निश्रेणि (निसरणी) के समान थे। समस्त देवों में प्रधान थे। उत्तम पुरुषों के समूह उनके चरणों में नमस्कार करते थे। भूतदया की विमल धारा उनके अन्तर से प्रवाहित होती रहती थी। समस्त जगत् को लोकोत्तर आनन्द प्रदान करने

और जन्म-मरण की अनादि परम्परा का उच्छेद करने के लिए चिन्तामणि के समान थे।

भाइयो ! ऊपर बतलाया गया है कि भगवान् पार्श्वनाथ पुण्यों की 'विपणि' (प्राप्ति स्थान) थे। इस जगत में जो अभिष्ट है, हितकर है, सुखकर है, मन को अनुकूल है और जिसे पाकर जीव शान्ति एवं आह्लाद प्राप्त करता है, वह सब पूर्वकृत पुण्य कर्म का ही फल है। मनुष्यभव की प्राप्ति, आर्य क्षेत्र उत्तम कुल लंबा आयुष्य, शारीरिक नीरोगता, इन्द्रियों की परिपूर्णता, शास्त्र-श्रवण का सुअवसर, सत्पुरुषों का समागम, धर्मश्रद्धा, धर्माचरण की अभिलाषा आदि की प्राप्ति पुण्य से ही होती है। भगवान् पार्श्वनाथ की आराधना करने वालों को असीम पुण्य की प्राप्ति होती है। भगवान् की समतापूत वाणी के श्रवण से अज्ञानान्धकार इसी प्रकार दूर हो जाता है जैसे क्षमा से क्रोध, संतोष से लोभ, सद्गुणों से दुर्गुण और सूर्य के प्रखर आलोक से अन्धकार विनष्ट हो जाता है।

हाथी जब मतवाला हो उठता है तो उसको वश में करने के लिए महावत अंकुश का प्रयोग करता है। इसी प्रकार नाना प्रकार के मदों से उन्मत्त बने प्राणियों के लिए तीर्थंकर भगवन्तों की वाणी अंकुश का काम करती है। आपको विदित होगा कि राजीमती को निर्जन गुफा में अकेली देख कर रथनेमि का मन विकृत हो गया। उस समय धर्म वचन रूपी अंकुश से ही उनका मन-मतंगज वशीभूत हुआ।

भाइयो ! वचनों में बहुत शक्ति होती है। कभी २ किसी के एक ही वाक्य से कुछ का कुछ हो जाता है। बिगड़ी बात बन

जाती है और बनी बात बिगड़ भी जाती है। एक ही वचन से मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

भगवान् का नाम मोक्ष की निसरणी है। जब बहुत ऊंची जगह पर पहुंचना होता है तो निसरणी का उपयोग किया जाता है सावधानी के साथ उस पर ऊंचा-ऊंचा चढ़ता हुआ मनुष्य अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंच जाता है। मोक्ष बहुत ऊंचा है। उस पर पहुंचने के लिए निसरणी आवश्यक है और वह निसरणी तीर्थंकर भगवान् का नामस्मरण है।

भगवान् के नामस्मरण या प्रार्थना में अद्भुत शक्ति निहित है। आपमें से कइयों ने गांधीजी को देखा होगा। भगवत्प्रार्थना पर उनका अटल विश्वास था। प्रार्थना के संबन्ध में उन्होंने एक जगह लिखा है- मैं दोनों समय भगवान् की प्रार्थना करता हूँ। यही मेरे संकट को दूर करने वाला एक अमोघ मंत्र है। मैं जब प्रार्थना में तल्लीन हो जाता हूं तो मुझे कोई न कोई मार्ग दिखाई देने लगता है। प्रार्थना प्रकाश की राह दिखाने वाली है और झगड़ों को शान्त करने वाली है।

भाइयो! आप गृहस्थी में रहे हुए हो और साधुजीवन व्यतीत करने की क्षमता आपमें नहीं है तो श्रावक ही बनो और परमात्मा को अपने दिल में रक्खो। ऐसा न हो कि संसार के कामों में इतने व्यस्त हो जाओ कि परमात्मा का स्मरण ही न रहे संसार के काम करते हुए भी दो घड़ी का समय परमात्मा का स्मरण करने के लिए निकालना चाहिए। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति को नहीं भूलती, इसी प्रकार आपको भी परमात्मा का विस्म-

रण नहीं करना चाहिए। अगर आपने सुबह और शाम भी परमात्मा का स्मरण कर लिया तो आप भाग्यशाली होंगे एक कवि ने ठीक ही कहा है—

सुबह श्याम जिसको तेरा ध्यान होगा,
बड़ा भाग्यशाली वो इन्सान होगा ॥ टेक ॥
उसी को तो हरदम लगन तेरी होगी,
कि जिस पै तू खुद ही महरबान होगा ॥ १ ॥
जिसने भी तुझको हृदय में टटोला,
लगा खाक तन में क्यों हैरान होगा ? ॥ २ ॥
तेरे नाम से जो भी गाफिल रहेगा,
समझ लो बड़ा ही वो नादान होगा ॥ ३ ॥
जिस जां भजन हर घड़ी तेरा होगा,
वैकुंठ-सा ही वह स्थान होगा ॥ ४ ॥
तू बेचैन मन हो यह पी प्रेमप्याला,
इसे जो पिये वो कदरदान होगा ॥ ५ ॥

तो कवि भी कह रहा है कि वह मनुष्य बड़ा ही भाग्यशाली समझा जाएगा जिसको सुबह-श्याम तेरी ही लगन रहती होगी। और जिसने सच्चे दिल से भगवान् की भक्ति करली, उसे फिर कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं रहेगी। कहा है—

चारधाम में फिरा भटकता,
कहीं न सुन्दर श्याम मिला।
घट के पट के अन्दर ढूंढ़ा,
वहीं तो प्यारा राम मिला।

भक्त कहता है कि मैं चारों धामों में भगवान् को ढूंढ़ता फिरा, परन्तु वह नहीं मिला। मगर जब मैंने अपने ही अन्तरतर को टटोला तो वह मिल गया। मालूम हुआ कि मेरा प्यारा राम तो मेरे नजदीक था और मैं बाहर दूर-दूर खोजता फिरता था।

परमात्मा के विषय में एक कवि कहता है—
जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठि।
सिप्पा ऊपर चित दिया, रहे किनारे बैठो॥

भाइयो! मोतियों की जिसको आवश्यकता होती है, उसे समुद्र की गहराई नापने को जाना पड़ता है। मोती सागर की तह में रहते हैं। उन्हें लाने के लिये गोताखोर नीचे तक जाते हैं। तो यह 'मोती' भी सहज में मिलने वाले नहीं हैं। देव, गुरु और धर्म की इसी प्रकार पहचान करोगे तो ये मोती मिलेंगे।

जिसने अपनी वृत्ति अन्तर्मुखी बना ली है, जो आत्मनिष्ठ बन चुका है, उसे परमात्मस्वरूप की उपलब्धि के लिए शरीर पर भस्म पोतने की आवश्यकता नहीं है, किसी तीर्थस्थान में जाने की जरूरत नहीं है। अज्ञान के कारण ही परमात्मा को बाहर खोज की जाती है, वास्तव में तो अपनी ही आत्मा परमात्मा है। मगर उसी प्रकार अभी दिखाई नहीं देता, जैसे—

कस्तूरी मृग अंग में, मृग ढूंढे वन मांय।
यूं मूरख समझे नहीं, धर्म आतमा मांय॥

भाइयो! कस्तूरी तो मृग की नाभि में ही मौजूद है। मृग को इसकी सुगन्ध आती रहती है। मगर भोला मृग नहीं जानता

कि कस्तूरी मेरी ही नाभि में है। वह उसे खोजने के लिए इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। इसी प्रकार परमात्मा तो आपके ही भीतर विराजमान है, मगर आप उसे बाहर खोज रहे हैं। इसलिए कहा गया है कि तू दो घड़ी परमात्मा की प्रार्थना में लीन हो जाएगा तो फिर शरीर को कष्ट नहीं देना पड़ेगा। परन्तु जो परमात्मा को भूले हुए हैं, वे नादान हैं, अज्ञानावस्था में हैं। कवि कहता है—वे धन्य हैं जो तेरा नाम लेते हैं। लोग वैकुण्ठ जाना चाहते हैं, स्वर्ग में जाना चाहते हैं, मगर स्वर्ग और वैकुण्ठ कहां हैं? जहां भगवान् का नाम लिया जाता है वही स्थान स्वर्ग और वैकुण्ठ है। जहां भगवान् का नाम लिया जाता है, वह स्थान पवित्र बन जाता है।

मन्दसौर में, जहां मेरा जन्म हुआ है, सेठ राकाजी मोती रहते हैं। उनका खानदान वैष्णव है, परन्तु उसमें भक्ति बहुत है। उस खानदान के जो मुखिया थे, उन्होंने घर दस-बीस औरतों को राम का नाम जपते रहने के लिए ही बिठा रक्खा था। उन्हें वे वेतन देते थे। उनका कहना था कि भगवान् का नाम कानों में पड़ता रहेगा तो जीवन में बुराई प्रवेश नहीं करेगी। यही उनका शौक था। और भी अनेक घर ऐसे हैं जहां निरन्तर भगवान् के नाम का जाप चलता रहता है।

कवि कहता है–आत्मन! तू क्यों बेचैन होती है? इस जीवन में अच्छे-बुरे वातावरण बनते ही रहते हैं और जब बुरा वातावरण बनता है तो चित्त में बेचैनी पैदा हो जाती है। मगर यदि तू भगवान् के प्रेम का प्याला पी लेगा तो तेरी सारी बेचैनी दूर हो जाएगी। उचित तो यही है कि क्या दिन में और क्या रात

में, सर्वदा परमात्मप्रेम जागृत रहे और परमात्मा का स्मरण चालू रहे। किन्तु यह संभव न हो तो भी कम से कम प्रातःसायंकाल तो स्मरण करना ही चाहिए। भगवान् का नाम अपूर्व प्रकाश देने वाला है और चिन्तामणि के समान समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाला है। जिसे चिन्तामणि मिल गई, उसे चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रहती। मगर पार्श्वनाथ का स्मरण तो चिन्ता के मूल को ही नष्ट कर देता है। यही कारण है कि जगत् के उत्तम और विवेकवान् पुरुष भगवान् के पावन पदपद्मों में प्रणाम करके कृतार्थ हुए हैं।

भगवान् ने समस्त प्राणियों की रक्षा की है और सब को अमृत-रस प्रदान किया है। मैं अपने दीर्घ प्रवास के दौरान जब सौराष्ट्र के पालावद गांव में पहुँचा तो एक भाई ने बतलाया— मैं एक बार मृत्युशय्या पर पड़ा था। सांस भी रुक-रुक कर आ रहा था। पत्नी का स्वर्गवास पहले ही हो चुका था। ऐसी हालत देखकर मेरे लड़कों ने फौरन सब कपड़े खींच लिये। यह स्थिति देखकर मुझे दुःख हुआ। मैंने प्रभु का ध्यान किया। उसी समय भगवान् के नाम का प्रभाव हुआ और मैं जीवित रह गया। उसके बाद मैंने दूसरी बार विवाह किया।

भाइयो! परमात्मा के नाम की शक्ति अचिन्त्य है, वाणी से अगोचर है। पवित्र हृदय से परमात्मा का स्मरण चिन्तन करने से मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है तो सांसारिक सुख तो उसके सामने तुच्छ हैं। अतएव आत्मा के कल्याण के लिए प्रभु की प्रार्थना करो। यही कल्याण का मार्ग है।

समवायांगसूत्र–

उन्हीं प्रभु तीर्थंकरों की वाणी मैं आपको सुना रहा हूँ। भगवान् ने बतलाया है कि पांच प्रकार की समिति है। सम्यक् प्रकार से अर्थात् यतना के साथ प्रवृत्ति करना समिति है। पांच समितियों में प्रथम ईर्यासमिति है। चार हाथ सामने की जमीन को देखते हुए चलना ईर्यासमिति है। उक्ति प्रसिद्ध है—

नीचे देख्या गुण घणा, जीव जन्तु बच जाय।
ठोकर भी लागे नहीं, पड़ी वस्तु मिल जाय॥

भाइयो! नीचे देख कर चलने से अनेक लाभ होते हैं। मार्ग देख कर चलने वाला आत्मविराधना से भी बच जाता है और परविराधना से भी। इसके विपरीत इधर-उधर देख कर चलने से कई प्रकार की हानियां होती हैं। ईर्या का अर्थ है गमन और गमन सम्बन्धी यतना ईर्यासमिति है। ईर्यासमिति चार प्रकार की है-द्रव्य से छह काय के जीवों की यतना करते हुए चलना चाहिए, क्षेत्र से सामने चार हाथ भूमि देख कर चलना चाहिए, काल से दिन में देख कर और रात्रि में पूञ्ज कर चलना चाहिए, भाव से दश बातों का ध्यान रख कर चलना चाहिए!

चक्षु इन्द्रिय पर जिसका काबू नहीं है, वह ईर्यासमिति का भलीभांति पालन नहीं कर सकता। एक बार 'जैनप्रकाश' में पढ़ा था-गुरु ने शिष्य से कहा—हम तो गांव में ही चौमासा करना चाहते हैं, परन्तु शिष्य बोला—नहीं गुरुजी, शहर में ही चौमासा करेंगे। आखिर चौमासा शहर में ही हुआ।

शहर के लोग दुकानों में तरह तरह की चीजें सजा कर रखते हैं और आंखों का स्वभाव देखना है। चलते समय दोनों काम साथ-साथ होते जाते हैं-पैर चलते हैं, आंखें देखती हैं।

आप जानते हैं कि शहरों के लोग अकसर चटोरे होते हैं और उनके लिए तरह-तरह की चीजें तैयार होती हैं। हलवाई और खोमचे वाले उनकी सेवा के लिए प्रस्तुत रहते हैं। कई अविवेकी फल आदि खाकर छिलके सड़क पर फैंक देते हैं।

तो उस शहर में गुरु-चेला जा रहे थे-दोनों की दृष्टि दुकानों पर थी। सड़क पर एक जगह केले का छिलका पड़ा हुआ था। गुरुजी का पैर छिलके पर पड़ गया और वे फिसल गए। यह देख चेले ने कहा-आप देख कर न चलने के कारण गिर गए। गुरुजी चिढ़ कर बोले—यह सब तेरी ही दुर्बुद्धि का फल है। न शहर में लाता, न मैं गिरता। तब चेले ने कहा-मेरा क्या अपराध है? भगवान् ने तो पहले ही देख-देख कर चलने का उपदेश दिया है। बिना देखे चलने से कुत्ते पर पैर पड़ जाता है और वह काट खाता है। मिट्टन हो जाती है। कांटा चुभ जाता है। पैर मुड़ जाता है। ठोकर लग जाती है।

तात्पर्य यह है कि अहिंसाव्रत के पालन के लिए ईर्या-समिति का पालन आवश्यक है। अतएव इसका सदा ध्यान रखना चाहिए।

दूसरी भाषासमिति है। यानी जो शब्द बोले जाएँ, सोच-समझ कर बोले जाएँ और न बोलने योग्य शब्द न बोले जाएं जैसे—सावद्य वचन, कठोर वचन, अप्रिय वचन। सत्य व्रत की

रक्षा के लिए इस समिति का पालन करना अनिवार्य है। शास्त्र में भाषा चार प्रकार की बतलाई गई है—

चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पण्णवं ।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासेज्ज सव्वसो ॥

श्रीमद् दशवैकालिकसूत्र के सप्तम अध्याय की प्रथम गाथा में भाषा के चार भेद बतलाए गए हैं। जो साधक साधना करने को तत्पर हुआ है, उसे सब से पहले गुरु के समीप रह कर भाषा का शिक्षण लेना चाहिए। उसे असत्य और मिश्र, यह दो भाषाएं नहीं बोलना चाहिए। सत्य और व्यवहार भाषा ही काम में लेना चाहिए। सत्य भाषा का प्रयोग करने में भी विवेक की आवश्यकता है। अगर वह बोलने योग्य नहीं है तो उसका बोलना निषिद्ध है। किसी काणे व्यक्ति को काणा कहना तथ्य है तथापि वह सत्य की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि पीड़ाकारी है। तो जिससे किसी को पीड़ा उपजे, किसी के प्राणों का नाश हो, जो अनर्थकारी हो, ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए।

दशवैकालिकसूत्र का सातवां अध्ययन भाषा सम्बन्धी विवेचन से ही परिपूर्ण है। उसमें यहां तक बतलाया गया है कि साधु को ऐसा भी नहीं बोलना चाहिए कि-यह मेरा काका है, मामा है, बाप है, या बेटा-बेटी है। अगर बोलना आवश्यक ही हो तो नाम से या गोत्र से उन्हें सम्बोधित करना चाहिए। गृहस्थावस्था के सम्बन्धसूचक शब्दों का प्रयोग करना उचित नहीं है।

जिस वस्तु के विषय में सही निर्णय न कर लिया गया हो, उसे निश्चयात्मक रूप में कहना भी उचित नहीं है। उदाहरणार्थ–कोई गाय दूरी पर दिखाई दे रही है, परन्तु यह निर्णय नहीं हो पाया कि यह गाय या बैल है तो उसे गाय या बैल न कह कर गोजातीय पशु कहना ही उचित है।

किसी वृक्ष को देखकर ऐसा नहीं कहना चाहिए कि यह खंभा, चौखट, खाट या अन्य कुछ बनाने के योग्य है, क्योंकि इससे वनस्पतिकाय के आरम्भ को प्रेरणा मिलती है।

साधक भोजन करने बैठा है, जीभ का काम स्वाद का अनुभव करना है, मगर साधक को समभाव से ही स्वाद का आस्वादन करना चाहिए, मगर किसी से नहीं रहा जाता है, तो भगवान् उसके लिए फर्माते हैं—

सुकडे ति सुपक्के त्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठि त्ति, सावज्जं वज्जए मुणी॥

क्या सुन्दर बनाया है! कितना बढ़िया पकाया है! कैसा अच्छा काटा है! इसने उसका धन हरण कर लिया सो अच्छा किया! अच्छा ही हुआ कि अमुक मर गया, यह धान्य पक गया है, काटने योग्य हो गया है। यह कन्या खूब तगड़ी हो गई है शादी के योग्य है इस प्रकार की पापजनक भाषा साधु को नहीं बोलना चाहिए, जब ऐसी वस्तु के विषय में कुछ कहना आवश्यक हो जाय तो इस विवेक के साथ बोलना चाहिए कि जिससे उसे आरम्भ का भागीदार न होना पड़े।

उदयपुर में महाराणा ने सेठ चम्पालालजी को नगर सेठ बनाया था, महाराणा ने तालाब में जगमन्दिर और जगविलास नामक महल बनवाए और उनकी प्रशंसा करते कि बड़े सुन्दर महल बनवाए हैं! मगर शास्त्रों के ज्ञाता होने के कारण सेठजी ने उनकी प्रशंसा नहीं की, किसी चुगलखोर ने महाराणा साहब से शिकायत कर दी–अन्नदाता! अन्य सभी लोग तो आपके महलों की प्रशंसा करते हैं, मगर नगर सेठ उनके बनवाने में भी पाप मानता है. यह सुनकर महाराणा साहब नाव में बिठला कर नगर-सेठजी को महल दिखलाने ले गए. वहां पहुँचने के बाद जब सेठजी के मुँह से प्रशंसा का एक भी शब्द न निकला तो महाराणा ने कहा—सेठजी, महल कैसा बना है?

नगर सेठ बड़े विवेकवान् थे, उन्होंने संक्षेप में उत्तर दिया—'अन्नदाता! हुजूर का काम तो हुजूर से ही बन सकता है।' यह सुनकर महाराणा खुश हो गए, इस प्रकार उन्होंने महाराणा को प्रसन्न भी कर दिया और अपने आपको आरम्भ की अनुमोदना से भी बचा लिया।

तात्पर्य यह है कि बोलने में विवेक होना चाहिए, कहा गया है—

साधु सोहंता अमृतवाणी।

अर्थात् साधु के मुख से जो भाषा निकले वह सब के लिए आनन्दकारी, कल्याणकारी और प्रियकारी होनी चाहिए, कोई साधु अपनी प्रतिष्ठा के लिए किसी का अपमान करता है तो वह साधु कैसा?

भाषा समिति का भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से पालन किया जाता है, द्रव्य से झूठा और लांछन की भाषा नहीं बोलना चाहिए, क्षेत्र से रास्ते में चलते हुए नहीं बोलना चाहिए, काल से एक प्रहर रात्रि व्यतीत हो जाने के बाद नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि आसपास वालों की निद्रा भंग हो जाएगी तो वे आरंभ-समारंभ आदि पाप करेंगे, बोलने का काम पड़े तो धीमे-धीमे ही बोलना चाहिए और बिना विचारे तो कभी बोलना ही नहीं चाहिए।

भाइयों! पुण्यसार नामक सेठ था, आप जानते हैं कि लक्ष्मी चंचल ही होती है, कुछ दिन बाद उसकी आर्थिक स्थिति गिर गई, सेठ ने अपनी पत्नी को पीहर भेज दिया, मगर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, स्थिति बद से बदतर होती गई, उसके पास कुछ भी नहीं बच रहा, फिर भी सेठ अपनी पत्नी को लाने के लिए ससुराल गया और ले आया, मगर रास्ते में पत्नी ने विचार किया—यहां रहने सिवाय कष्ट के और कुछ पल्ले पड़ने वाला नहीं है, किसी बहाने से पुनः पीहर चला जाना चाहिए।

इस प्रकार सोच कर उसने कहा—मुझे बहुत प्यास लगी है। पानी ला दीजिए।

उदयपुर में महाराणा ने सेठ चम्पालालजी को नगर सेठ बनाया था, महाराणा ने तालाब में जगमन्दिर और जगविलास नामक महल बनवाए और उनकी प्रशंसा करते कि बड़े सुन्दर महल बनवाए हैं ! मगर शास्त्रों के ज्ञाता होने के कारण सेठजी ने उनकी प्रशंसा नहीं की, किसी चुगलखोर ने महाराणा साहब से शिकायत कर दी-अन्नदाता ! अन्य सभी लोग तो आपके महलों की प्रशंसा करते हैं, मगर नगर सेठ उनके बनवाने में भी पाप मानता है. यह सुनकर महाराणा साहब नाव में बिठला कर नगर-सेठजी को महल दिखलाने ले गए. वहां पहुँचने के बाद जब सेठजी के मुँह से प्रशंसा का एक भी शब्द न निकला तो महाराणा ने कहा—सेठजी, महल कैसा बना है ?

नगर सेठ बड़े विवेकवान् थे, उन्होंने संक्षेप में उत्तर दिया—'अन्नदाता ! हुजूर का काम तो हुजूर से ही बन सकता है।' यह सुनकर महाराणा खुश हो गए, इस प्रकार उन्होंने महाराणा को प्रसन्न भी कर दिया और अपने आपको आरम्भ की अनु-मोदना से भी बचा लिया।

तात्पर्य यह है कि बोलने में विवेक होना चाहिए, कहा गया है—

साधु सोहंता अमृतवाणी ।

अर्थात् साधु के मुख से जो भाषा निकले वह सब के लिए आनन्दकारी, कल्याणकारी और प्रियकारी होनी चाहिए, कोई साधु अपनी प्रतिष्ठा के लिए किसी का अपमान करता है तो वह साधु कैसा ?

भाषा समिति का भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से पालन किया जाता है, द्रव्य से झूठी और लांछन की भाषा नहीं बोलना चाहिए, क्षेत्र से रास्ते में चलते हुए नहीं बोलना चाहिए, काल से एक प्रहर रात्रि व्यतीत हो जाने के बाद नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि आसपास वालों की निद्रा भंग हो जाएगी तो वे आरंभ-समारंभ आदि पाप करेंगे, बोलने का काम पड़े तो धीमे-धीमे ही बोलना चाहिए और बिना विचारे तो कभी बोलना ही नहीं चाहिए।

भाइयों! पुण्यसार नामक सेठ था; आप जानते हैं कि लक्ष्मी चंचल ही होती है, कुछ दिन बाद उसकी आर्थिक स्थिति गिर गई, सेठ ने अपनी पत्नी को पीहर भेज दिया, मगर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, स्थिति बद से बदतर होती गई, उसके पास कुछ भी नहीं बच रहा, फिर भी सेठ अपनी पत्नी को लाने के लिए सुसराल गया और ले आया, मगर रास्ते में पत्नी ने विचार किया—यहां रहते सिवाय कष्ट के और कुछ पल्ले पड़ने वाला नहीं है, किसी बहाने से पुनः पीहर चला जाना चाहिए।

इस प्रकार सोच कर उसने कहा—मुझे बहुत प्यास लगी है। पानी ला दीजिए।

सेठ पानी लाने कुए पर गया तो पत्नी भी साथ ही चली और जब वह पानी खींचने के लिए झुका तो उसने धक्का दे दिया। सेठ कुए में गिर गया और सेठानी लौट कर अपने मां-बाप के घर पहुंच गई। वहां जाकर उसने कह दिया—वे मुझे रास्ते में छोड़ कर वहीं से परदेश चल दिये और मैं बड़ी मुश्किल से यहां तक आ सकी हूं।

उधर सेठ कुए में पड़ कर संसार की विचित्रता का विचार कर रहा था कि संयोगवश एक मुसाफिर वहां जा पहुंचा। उसने पानी खींचने के लिए कुए में रस्सी डाली तो सेठ ने पकड़ ली। मुसाफिर ने देखा एक आदमी इसमें पड़ा है। उसने कुछ और आदमियों को बुलाया और जैसे-तैसे सेठ को बाहर निकाला। सेठ ने उन लोगों का अत्यन्त आभार माना और कहा—मैं पानी खींचने के लिए झुका कि अचानक कुछ चोर आ पहुँचे और उन्होंने मुझे धक्का देकर कुए में गिरा दिया। आप लोगों ने मेरे प्राण बचा दिए। अन्यथा यही कूप मेरी कब्र होता।

सेठ उनके साथ ही हो लिया और एक नगर में पहुंच कर बुद्धिबल से व्यापार करने लगा। भाग्य अनुकूल हो गया था, अतएव उसे व्यापार में अच्छा लाभ हुआ, वह पुनः धीरे-धीरे पैसा वाला बन गया। अच्छी प्रतिष्ठा भी उपार्जित कर ली। तत्पश्चात् उसने विचार किया—अब मुझे देश जाना चाहिए और अपने रिश्तेदारों, कुटुम्बियों तथा मित्रों से मिलना चाहिए। बहुत दिनों से जो घर गिरवी पड़ा है, उसे भी छुड़ा लेना चाहिए।

यह सोच कर सेठ बहुत-सा धन लेकर अपने गांव की ओर चला। रास्ते में ससुराल का गांव आया। वह उस गांव के बाहर किसी सराय में ठहर गया। यह समाचार जब उसके श्वसुर को मालूम हुआ तो वह आया और कहने लगा—आप यहां क्यों ठहर गए? क्या घर नहीं था?

सेठ ससुराल में आ गया। पत्नी को पता चला कि पतिदेव अच्छी पूञ्जी कमा कर आए हैं तो उसकी खुशी का भी पार

न रहा। कुछ दिन ठहर कर सेठ पत्नी के साथ अपने घर गया और वहीं रहने लगा। उसे पुत्र की भी प्राप्ति हो गई। मगर अभी तक सेठ इतना गम्भीर रहा कि पुरानी बात मुंह पर नहीं लाया।

एक दिन सेठ भोजन करने बैठे थे कि चेहरे पर पसीना आ गया। सेठानी ने तुरन्त अपनी साड़ी से उसे पोंछ दिया। यह देख सेठ को हंसी आ गई। उसे खयाल आया-आज श्रीमतीजी को पसीने की एक बूंद भी सहन नहीं हो रही है, मगर एक दिन वह भी था कि मेरे पास पैसा नहीं रह गया था और इसी कारण इसने मुझे कुए में धकेल दिया था।

सेठ के व्यंगमय हास्य को उसकी पुत्रवधू ने देख लिया और सोचा-इसका कारण अवश्य मालूम करना चाहिए। रात्रि में उसने अपने पति से सब बात कह कर अन्त में आग्रह किया-श्वसुरजी की हंसी का कारण अवश्य खोजना है। किसी उपाय से आप तलाश करके मुझे बतलाए।

दूसरे दिन लड़के ने पिता से पूछा—पिताजी, कल भोजन करते समय आप अचानक क्यों हंस पड़े थे ?

इस अवसर पर सेठ को अपनी गंभीरता कायम रखनी चाहिए थी, बीती बात को कहना नहीं चाहिए था और समझना चाहिए था कि कहने का भयंकर परिणाम हो सकता है, मगर सेठ ने दूरदर्शिता से काम नहीं लिया। उसके मन में दुर्बलता आ गई और उसने पूर्वोक्त सारी कहानी दोहरा दी। अपनी पत्नी की स्वार्थपरायणता का नग्न चित्र खींच कर दिखला दिया।

सेठ के लड़के ने माता की वह कथा अपनी पत्नी से कह दी। इसे सुन कर उसने सोचा-बहुत बढ़िया सूत्र हाथ लगा है। मौका आने पर सासूजी को ऐसी सुनाऊंगी कि वह भी जिंदगी भर याद रक्खें।

कुछ दिनों बाद अवसर आया और सास-बहू में कहा-सुनी हो गई। बहू ने निर्भयता के साथ कहा—तुम कैसी हो सो मैं अच्छी तरह जानती हूं। तुम वही हो न जिसने अपने पति को कुए में धक्का देकर गिरा दिया था।

बहू के मुख से अपने कलंक की बात सुनकर सासू के कलेजे में तीर-सा लगा वह उसी समय अपने कमरे में गई और फांसी खाकर मर गई।

सेठ और उसके लड़के को जब पता लगा कि सेठानी ने आत्महत्या कर ली है और हमारी प्रतिष्ठा खतरे में पड़ गई है तो वे दोनों भी उसी समय फांसी लगाकर मर गए। रह गई अकेली बहू। उसने सोचा-मेरी जीभ की बदौलत ही यह मौका आया है। मैंने सारे परिवार को नष्ट कर दिया और अपने सौभाग्य को भी समाप्त कर दिया ! अब मेरा जीवन निरर्थक है। मैं लोगों को कैसे मुंह दिखलाऊंगी ! यह सोच कर उसने भी प्राण त्याग कर देना ही उचित समझा।

भाइयो ! धन-जन से सम्पन्न परिवार पूरा का पूरा नष्ट हो गया। ऐसा अनर्थ क्यों हुआ ? अगर सेठ ने, उसके लड़के या बहू ने अपनी जीभ पर अंकुश रक्खा होता तो यह भीषण परिस्थिति उपस्थित न होती। मगर ऐसा न करने का यह अनर्थ हुआ। चार जीवों को प्राण देने पड़े।

ज्ञानी पुरुष कहते हैं बिना विचारे मत बोलो। बिना विचारे बोलने से अनेक अनर्थ हुए हैं और हो रहे हैं। श्री कृष्ण की पटरानी सत्यभामा ने एक बार नारदजी को कटुक शब्द कह दिये। कहा–'मेरा मुख चन्द्र जैसा है और यह राहू कहां से आ गया! इसका परिणाम यह हुआ कि उसके दर्प को चूर करने के लिए नारदजी ने तिकड़म लगाई और रुक्मिणी के रूप में सौत ला दी इतिहास साक्षी है कि द्रौपदी के द्वारा दुर्योधन को कहे गए अप-शब्दों की बदौलत महाभारत जैसा भीषण संग्राम हुआ जिसने भारतवर्ष को तबाह कर दिया।

तो इस जीभ में दुहरी विशेषताएं हैं। यह खाकर भी बिगाड़ती है और बोलकर भी बिगाड़ती है। मगर यही अवगुण वाली जबान गुणवान् बनाई जा सकती है और इससे महान् लाभ भी प्राप्त किया जा सकता है। इससे परमात्मा का गुणगान किया जाय, दीन- दुखिया को ढाढस बंधाने वाले दो बोल कह दिये जाएं, पथभ्रष्ट होते हुए लोगों को हितवचन कहे जाएं, शास्त्रों का पारायण किया जाय तो इसी जीभ से महान् कल्याण प्राप्त किया जा सकता है। इस जीभ के द्वारा सुयश भी प्राप्त किया जा सकता है और अपयश भी। अतएव पुण्योदय से प्राप्त जिह्वा का सदुपयोग करना चाहिए और दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।

मानव! इस जिह्वा में अमृत भी है और जहर भी है। तू इसके अमृत का उपयोग कर, जहर को रहने दे।

भाइयो! साधु की साधुता की प्रथम परीक्षा किससे होती है? जबान से अगर साधु के मुंह से हित, मित और पथ्य

वचन निकलते हैं तो लोग कहते हैं- बड़े उत्तम साधु हैं ? इनकी जिह्वा से फूल बरसते हैं।

सचमुच मनुष्य की कसौटी उसकी बोली है। कोई सुन्दर वेषभूषा से सुसज्जित पुरुष बड़ा ही सभ्य और शिष्ट दिखाई देता है, किन्तु जब उसके मुख से फूहड़ एवं असभ्य भाषा निकलती है तो पोल खुल जाती है और उसका सौन्दर्य केवल दिखावा रह जाता है।

एक कवि कहते हैं—

जिह्वा जोग और भोग है जिह्वा से रोग बढ़ावे,
जिह्वा से जस होय जिह्वा से आदर पावे।
जिह्वा करे फजीत जिह्वा से जूत्यां खावे,
जिह्वा नरक ले जाय जीभ वैकुण्ठ पठावे ॥
अदल तराजू जिह्व है, गुण अवगुण दोनों तोलिए।
वैताल कहे विक्रम सुनो जिह्वा सँभाल कर बोलिए ॥

इस जबान से भोग भी होता है और रोग भी होता है। आम तौर पर लोग घर पर ज्यादा नहीं खाते, परन्तु दूसरों के घर जाकर अवश्य ही दो-चार कवल ज्यादा खा लेते हैं। कभी-कभी तो इतना ज्यादा कि पानी पीने की भी जगह नहीं रहती। परिणामस्वरूप पेट फूल जाता है, अजीर्ण हो जाता है, पेचिश हो जाती है। अतएव भोजन के समय जबान पर काबू रखना चाहिए।

बोलते समय भी जबान पर अंकुश की आवश्यकता है। यह मनुष्य को नरक में भी ले जा सकती है और स्वर्ग में भी

पहुंचा सकती है। इससे आदर भी प्राप्त किया जा सकता है और अनादर भी। कहावत प्रसिद्ध है- जबान शीरीं तो मुल्क गीरी।' मधुरभाषी व्यक्ति कहीं भी चला जाय, सब उसके मित्र बन जाते हैं और जिसकी जबान में जहर घुला होता है, मित्र भी उसके शत्रु हो जाते हैं, बाप भी घर से निकाल देता है। कहा है-

इस जबान से इन्सान बड़ा पद पावे।
जी कहे औरों को खुद ही जी कहलावे॥

मनुष्य के मुख से निकले हुए फूल के समान शब्दों को सुन कर लाग कहते हैं—देखोजी, इनके मुख से यद्यपि थोड़े ही शब्द निकले हैं किन्तु कितने मीठे और चित्त आह्लाद करने वाले हैं। इनके शब्द सुन कर सब को आश्वासन मिलता है।

घबराया हुआ मनुष्य किसी के पास कुछ आशा लेकर आया हो और वहां डाट-फटकार के शब्द ही सुनने को मिलें तो वह और भी अधिक घबरा जाता है।

तात्पर्य यह है कि सोच-समझ कर हितकारी, प्रिय और निरवद्य वचनों का प्रयोग करना भाषासमिति है और इसका पालन करने से मनुष्य बहुत से पापों से सहज ही बच जाता है।

अमरसेन-वीरसेन चरित-

देखो, उन राजकुमारों ने भी चाण्डालों के समक्ष मीठे और नम्र वचनों का प्रयोग किया। उन वचनों को सुन कर चाण्डालों के कठिन हृदय भी कोमल बन गए। उनके हृदय रूपी

हृदय में करुणा की लहरें लहराने लगीं। कुमारों के नेत्रों में आंसू देखे तो उन्होंने उन्हें छाती से लगा लिया। उनमें से मुख्य चाण्डाल ने कहा-राजकुमारों ! हम तुम्हारे प्राणों की रक्षा तो कर सकते हैं, परन्तु एक शर्त पर। शर्त यह है कि तुम्हें इस देश को त्याग कर कहीं दूर जाना होगा। अगर राजा को तुम्हारे जिन्दा होने का पता चल गया तो तुम भी मारे जाओगे और हम भी बुरी मौत मारे जाएँगे।

आश्वासन के यह शब्द सुन कर कुमारों ने कहा-आपकी शर्त हमारे हित में ही है, अतएव हम उसका पूरी तरह पालन करेंगे। इसके अतिरिक्त आप हमें प्राणदान दे रहे हैं तो क्या हम ऐसा कोई काम करेंगे कि आपके ऊपर संकट आ जाए ? अपने प्राण भले दे दें पर आपको आंच नहीं आने देंगे। आपने हमें नया जन्म दिया है, यह बात हम कभी नहीं भूलेंगे।

इसके बाद चाण्डाल उन्हें अपने घर ले गए। रात्रि में ही चाण्डाल गीली मिट्टी लाए और राजकुमारों जैसे दो मस्तक बनाए। उन पर वैसा ही रंग चढ़ा दिया। देखने से मालूम होता था जैसे साक्षात राजकुमारों के ही मस्तक हों।

दोनों मस्तकों को रात्रि में ही रस्सी से लटका कर वे उन्हें राजमहल में ले गए। वहां पहुंचे तो देखा कि महाराज झरोखे में बैठे हैं, मानो उनके आने की प्रतीक्षा ही कर रहे हों। यह देख चाण्डाल अत्यन्त प्रसन्न हुए कि चलो सहज ही काम बन जाएगा।

चाण्डालों ने नीचे से ही हाथ जोड़ कर कहा-अन्नदाता !

आपके हुक्म के अनुसार काम कर दिया है। आप गौर करके इन्हें देख लीजिए और आगे की आज्ञा फरमाइए।

राजा ने आवेश में कह दिया—अच्छा इन्हें ले जाओ और जमीन में गाड़ दो।

यह आदेश सुनते ही चाण्डाल अत्यन्त प्रसन्न हुए और पीछे पैर वापिस लौट कर अपने घर आ गए।

उधर राजा को भी प्रसन्नता हुई कि बड़ी सावधानी के साथ सारा काम हो गया और किसी को कुछ भी पता नहीं चल पाया। वहां से रवाना होकर राजा रानी के पास पहुँचा और बोला—लो प्रिये! दोनों छोकरों को यमलोक भेज दिया गया है। चाण्डाल दोनों के कटे मस्तक अभी मुझे दिखला गए हैं।

रानी जैसे कृतार्थ हो गई। उसने सोचा—चलो, मेरे हृदय के कांटे दूर हो गए और मुझे मानव हत्या के पाप का भागी भी नहीं होना पड़ा।

रानी ने बड़े प्रेम से राजा का स्वागत किया।

भाइयो! संसारी जीव किस प्रकार अज्ञान के अन्धकार में डूबे रहते हैं और किस प्रकार पापाचरण करके प्रसन्न होते हैं और साथ ही अपनी आत्मा को धोखा देते हैं, यह बात इस कथानक से स्पष्ट हो जाती है। घोर पाप उपार्जन करके भी रानी अपने को निष्पाप मानती है और रागान्ध राजा पाप करके प्रसन्न होता है। मगर कोई किसी का कितना ही अनिष्ट क्यों न करना चाहे, पुण्य जिसकी रक्षा करता है, उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं

होता। पुण्य के उदय से कभी-कभी अहितकर कार्य भी हितकर बन जाता है।

तो रानी सोचने लगी—मेरा रास्ता अब साफ है, राजा की मृत्यु होने पर मेरा ही लड़का सिंहासन पर आसीन होगा और मुझे राजमाता का गौरव प्राप्त होगा।

चाण्डालों ने घर पहुंच कर सोचा—कुमारों को अपने घर में रखना खतरनाक है, प्रभात होते ही कोई इन्हें देख लेगा तो हमारी और इनकी खैर नहीं है, अतएव उन्होंने कहा—बच्चों! अब तुम हमारे साथ चलो। हम तुम्हें रास्ता दिखा आते हैं।

एक प्रहर रात्रि शेष थी, चाण्डाल कुमारों को साथ ले चले और बहुत दूर तक उन्हें पहुंचा आए, वेष उनका बदल दिया गया था और पहचाने जाने की कोई संभावना नहीं थी, चाण्डाल जब लौटने लगे तो उन्होंने कुमारों को आश्वासन दिया और धैर्य बंधाते हुए कहा—घबराना मत. तुम्हारा भाग्य तुम्हारे साथ है। वही तुम्हारी रक्षा करेगा। जिस भाग्य ने तुम्हें प्राणान्तक संकट से उबार लिया है और जीवित रक्खा है वही भाग्य आगे भी रक्षा करेगा, इसमें सन्देह नहीं है। तुम दोनों तो सौ के बराबर हो, हिम्मत मत हारना। तुम्हारा अवश्य कल्याण होने वाला है।

एक कवि ने नसीहत के रूप में कहा है—

डूंगर उगतो जान दूर घर बांधिए,
राजा रूठो जान नगर को छोड़िए।

टेढ़ी चंचल नार टरे तो टारिए,
पण हां वाजींद सल्ला नीचे हाथ कला कर काढ़िए ॥

पहाड़ के पास मकान नहीं बनाना चाहिए, जहां का शासक रूठ गया हो वह स्थान त्याग देना चाहिए। चंचल औरत और राजा की दासी से सौ कदम दूर रहना चाहिए, अन्यथा इज्जत बिगड़ते देर नहीं लगेगी, और यदि हाथ पर सिला पड़ गई हो तो लोहे की शब्बल से धीरे से हटा देना चाहिए।

हां, तो चाण्डालों ने कहा—राजा रूठ गया है तो देश परित्याग कर देने में ही कल्याण है, राजा-रानी को महलों में मौज करने दो, तुम राजमहल छोड़ कर अपने भाग्य का भरोसा करके आनन्द के साथ अन्यत्र चले जाओ। घबराना मत, क्योंकि तुम्हारा पुण्य तुम्हारी सहायता करेगा।

इस प्रकार आश्वासन देकर उन्होंने कुमारों को विदाकर दिया और वे अपने-अपने घर आ गए।

हिम्मत करके दोनों कुमार आगे बढ़े, सिवाय पुण्य के और कोई उनका सहायक नहीं था; मगर पुण्य सब से प्रबल सहायक है। उसी के बल पर कुमार चल पड़े हैं, वे कहां पहुंचते हैं और उन्हें किस प्रकार क्या साधन मिलते हैं? वे आगे क्या-क्या महान् कार्य करते हैं? यह सब आगे सुनने से विदित होगा।

तो जो भव्यात्माएँ मीठी वाणी बोलेंगी और दूसरों के जख्मों पर मलहम लगाएँगी तथा जहां-तहां फूलों की वृष्टि करेंगी, वे इसलोक और परलोक में सुखी होंगी।

बैंगलोर केन्टोनमेन्ट
ता० १६-६-५६

कल्याण की कसौटी



प्रार्थना

श्रीचिन्तामणिपार्श्वविश्वजनतासंजीवनस्त्वं मया,
दृष्टस्नात ! ततः श्रियः समभवन्नाशक्रमाचक्रिणम् ।
मुक्तिः क्रीडति हस्तयोर्बहुविधं सिद्धं मनोवाञ्छितं,
दुर्दैवं दुरितं च दुर्दिन भयं कष्टं प्रणष्टं मम ॥ ४ ॥



श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ भगवान् विश्व के प्राणियों के लिये संजीवनरूप—प्राणस्वरूप हैं। हे प्रभो ? यदि आपके दर्शन हो गये तो संसार की सम्पत्तियां न भी प्राप्त हुई हों तो भी कोई हानि नहीं है। प्रथम तो पार्श्व प्रभु के दर्शन का माहात्म्य ही ऐसा है कि उससे संसार की बड़ी से बड़ी पदवी प्राप्त हो जाती है। मानवजाति में सर्वोत्तम पद चक्रवर्ती का है और स्वर्गलोक में सब से बड़ा पद इन्द्र का है। यह दोनों पद उसके लिए दुर्लभ नहीं रहते जो अपने अन्तर्नेत्रों से भगवान् पार्श्वनाथ का साक्षात्कार करते हैं। कदाचित् यह पद प्राप्त न हों तो भी परमात्मदृष्टा पुरुष को उनकी अभिलाषा नहीं रहती। उसकी दृष्टि में सांसारिक समस्त विभूतियां नगण्य होती हैं,

जिसने परमात्मा का साक्षात्कार किया, उसे लौकिक विभूतियां तो क्या लोकोत्तर विभूति —मुक्ति भी स्वयं वरण करती है और उसके हाथों का खिलौना बन जाती है। भगवान् के दर्शन से जब मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है तो इन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव या वासुदेव आदि की ऋद्धि क्या चीज है ! समस्त पदवियां मिलकर भी तृणवत् हैं।

सत्य तो यह है कि आपके दर्शन से ऐसा पुण्यप्राग्भार प्राप्त होता है कि जीवों के सकल मनोरथ पूरे हो जाते हैं। उसकी कोई अभिलाषा अपूर्ण नहीं रहती। अभागा से अभागा मनुष्य भी यदि पार्श्वनाथ प्रभु के चरणों में हार्दिक श्रद्धा के साथ आ जाता है तो वह भी भाग्यशाली हो जाता है। जिसकी समाज में, देश में या राष्ट्र में, कहीं भी पूछ नहीं होती और जिसे दुनियां देखना पसंद नहीं करती, वह जब आपके श्री चरणों में आ जाता है तो देवों द्वारा भी पूज्य बन जाता है।

भाइयो ! हरिकेशी मुनि को स्मरण कीजिये। शास्त्रों में उनका विशद वर्णन आया है। वह जाति से चाण्डाल थे। अत्यन्त कुरूप थे। सारी काया विकृत थी। वे अपने मामा के घर बड़े हुए। शरीर की कुरूपता देखकर कोई भी अपनी कन्या उन्हें देने के लिए तैयार नहीं होता था। सर्वत्र घृणा और अपमान की दृष्टि से देखे जाते थे। अपनी यह स्थिति देख कर वह मन ही मन अत्यन्त दुखित रहते थे।

एक बार अत्यन्त खिन्न और उदासीन देख कर मामा ने कहा- बेटा, चिन्ता मत कर। मैं अपनी लड़की का विवाह तेरे

साध कर दूंगा। मगर लड़की ने यह बात सुनी तो वह साफ इंकार हो गई। बोली-मुझे अविवाहित रहना स्वीकार है, पर ऐसे कुरूप वर के साथ विवाह करना स्वीकार नहीं।

हरिकेशी के भी कानों तक यह बात पहुच गई। अतएव उन्हें अपनी जिंदगी से और अधिक घृणा हो गई। वह क्रोध की अधिकता से, आत्मघात करने के विचार से, घर से निकल पड़े। रास्ते में उन्होंने देखा-लोग एक काले सर्प को मार रहे हैं। उन्होंने उसे मारने का कारण पूछा तो मारने वालों ने कहा-यह सर्प बड़ा ही क्रोधी है, अतएव इसे मार डालना ही उचित है।

हरिकेशी चुपचाप आगे बढ़े तो एक साधु मिल गए उन्हें अपना सारा वृत्तान्त सुनाया। तब मुनि ने कहा-बच्चा, क्रोध के वश होकर आत्महत्या करेगा तो आगे इससे भी खराब हालत होगी। आत्महत्या करने वाले नरक जैसी दुःखमय अधोगति में जाता है। तेरे लिए त्याग का मार्ग अंगीकार करना हितकर होगा इससे तेरे पूर्वकृत पापकर्म नष्ट हो जाएंगे और भविष्य आनन्दमय बनेगा।

मुनिराज की शिक्षा का तत्काल प्रभाव पड़ा और उसी दिन वह साधु बन गए। उन्होंने अपने शरीर को तपस्या की भट्ठी में झौंक दिया। तपःप्रभाव से थोड़े ही दिन में देवों के भी पूज्य बन गए।

भाइयो! जो व्यक्ति अपनी कुरूपता के कारण परेशान होकर आत्मघात करने को उद्यत था, एक सन्त पुरुष की संगति में आकर उसी के जीवन में इतनी चमक आ गई कि देवता भी

उसकी सेवा में रहने लगे और सेवा करके अपना अहोभाग्य समझने लगे।

अभिप्राय यह है कि जो भाग्यहीन भी तीर्थंकर भगवान् के चरणों में आ जाता है, उसका भाग्य खुल जाता है। इस प्रकार भगवान का दर्शन दुर्भाग्य को दूर करने वाला और पापों को नष्ट करने वाला है। जहां तीर्थंकर भगवान् का पदार्पण होता था, वहां की जनता आपस में बातचीत करती हुई कहती थी कि जब भगवान् का नाम लेने से भी कर्मों की निर्जरा रूप महान् फल की प्राप्ति होती है तो फिर उनके दर्शन, चरणस्पर्श और वाणीश्रवण के फल का तो कहना ही क्या है?

परन्तु देखते हैं कि लोग इधर-उधर की गपसप में और व्यर्थ के कामों में समय नष्ट कर देते हैं, किन्तु भगवान् तीर्थंकरों का नाम उनसे नहीं लिया जाता। भगवान् का नाम लेने के लिए भी महान् पुण्य की आवश्यकता है। एक कवि ने कहा है—

तब तक मुख में राखिए, जब तक भजे तो राम।
नीतर काट बधाइए, मुँह में भलो न चाम॥

बड़ी सुन्दर उक्ति है। कवि का कहना है कि चमड़ी एक अपवित्र वस्तु मानी जाती है। कई लोग उसका हाथ से स्पर्श होने पर जल से शुद्धि करते हैं। ऐसी हालत में उसे मुँह में डाल रखना उचित नहीं है। जीभ आखिर चमड़े का टुकड़ा ही है। किन्तु जब तक वह भगवान् के भजन के काम आती है, तब तक वह पवित्र है और उसे मुख में रखना चाहिए।

वस्तुतः भगवान् का भजन करना ही जीभ की सार्थकता है। यह ठीक है कि विरले ही भगवद्भक्त होते हैं, परन्तु जो जीभ से भगवान् का नाम नहीं ले सकते, उनकी जीभ किस काम की है।

भगवान् तीर्थंकरों के नाम की महिमा अपरम्पार है। उनके नाम के प्रभाव से मूक भी बोलने लगता है पंगु भी पहाड़ को लांघ जाता है, नहीं चलने वाला भी चलने लगता है और बहरा भी सुनने लगता है।

भगवान् का नाम सभी पापों को नष्ट करने वाला है। आचार्य कहते हैं कि जिस व्यक्ति को दरिद्रता का भय लगा है और जिसके विषय में लोग कहते हैं-इसका दिवाला निकलने वाला है, इसे घाटा ही घाटा हो रहा है, ऐसा भयभीत व्यक्ति भी यदि शुद्ध अन्तःकरण से भगवान् का नाम लेता है तो उसका सारा संकट कट जाता है। फांसी की सजा भी टल जाती है।

तो आचार्य कहते हैं—प्रभो! मेरे जो कष्ट हैं वे आपके नाम से नष्ट हो जाएंगे। इसी उद्देश्य से भगवान् को स्मरण किया जाता है।

अनादि काल से आत्मा चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण कर रही है और इसका कहीं ठिकाना नहीं लग रहा है। इस संसार-सागर से पार होने के लिए भगवान् का नाम उत्तम नौका के समान है। जो भव्य जीव इस नामनौका का आश्रय लेंगे, वे संसार-सागर से पार हो जाएंगे।

समवायांगसूत्र—

भगवान् तीर्थंकरों ने जगज्जीवों के कल्याण के लिए उपदेश दिया और गणधर महाराजों ने उसे शब्दबद्ध कर दिया। वही उपदेशवाणी आज हमारा पथप्रदर्शन कर रही है। समवायांगसूत्र के आधार पर उसी वाणी को मैं आपको सुना रहा हूँ।

समवायांगसूत्र के पांचवें समवाय में समितियों का वर्णन चल रहा है। कल ईर्यासमिति और भाषासमिति के सम्बन्ध में विवेचन किया जा चुका है। तीसरी एषणासमिति है। इसका अर्थ है साधु को दोष टाल कर भिक्षा ग्रहण करना चाहिए।

भाइयो ! मोक्षमार्ग की साधना में प्रवृत्त और शरीर के प्रति अनासक्त साधु के लिए भी आहार अनिवार्य है। आहार के बिना शरीर टिक नहीं सकता। अतएव उसे आहार लेना पड़ता है, मगर इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि जो भी आहार लिया जाय वह शास्त्रोक्त भिक्षा सम्बन्धी समस्त दोषों से रहित हो।

भिक्षा के ४२ दोष शास्त्रों में प्रतिपादन किये गये हैं। उनमें सोलह गृहस्थ के द्वारा लगने वाले हैं, सोलह साधु के द्वारा लगने वाले और दस दोनों के द्वारा लगने वाले हैं। गृहस्थ का साधु के प्रति राग हो या साधु का गृहस्थ के प्रति अनुराग हो तो उक्त दोषों के लगने का अवसर आता है। सब प्रकार के रागभाव का

त्याग करके यदि भिक्षा ली जाय तो दोष लगने की सम्भावना नहीं रहती।

एक बार भगवान् महावीर श्रावस्ती नगरी में विराजमान थे। प्रसंगवश भगवान ने उपदेश देते समय गोशाला का उल्लेख किया। यह समाचार गोशाला को मालूम पड़ा और उसने भगवान् के दो शिष्यों से कहा—महावीर से कह देना, आयंदा मेरी बात न करें। फिर वह व्याख्यान के समय ही भगवान् से लड़ने के लिए आ धमका। यद्यपि भगवान् ने पहले ही अपने शिष्यों को चेतावनी दे दी थी कि—गोशाला यहां आएगा और मुझे अपशब्द कहेगा, मगर तुम लोग मौन रहना। उससे एक भी शब्द न बोलना, मगर जब वह आया और क्रोधावेश में अनुचित शब्द बोलने लगा तो वहां उपस्थित साधुओं में से दो से नहीं रहा गया। उनके मन में आया—यह भगवान् की आसा-तना कर रहा है और हमारे लिए लज्जा की बात है कि हम चुप-चाप बैठे भगवान् का अपमान होते देखें। ऐसा सोच कर सुन-क्षत्र और सर्वानुभूति नामक दो मुनि खड़े होकर गोशाला को फटकारते हुए कहने लगे—अरे गोशालक! जिनसे तूने ज्ञान प्राप्त किया है और जिनकी सेवा करके तू इस अवस्था में पहुँचा है, उन्हीं भगवान् के प्रति इन शब्दों का प्रयोग करते हुए तुझे संकोच नहीं होता? लज्जा का अनुभव नहीं होता?

उस समय गोशाला क्रोधावेश में तो था ही, इस प्रकार के शब्द सुनकर और अधिक क्रुद्ध हो उठा, उसने समवसरण के बीच में ही दोनों मुनियों पर तेजोलेश्या का प्रयोग कर दिया।

तेजोलेश्या से दोनों मुनि जलकर भस्म हो गए, फिर भी उसका क्रोध शान्त नहीं हुआ, उसने भगवान् के ऊपर भी तेजोलेश्या का प्रयोग किया।

क्रोध के आवेश में मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है। वह अपना भी हिताहित भूल जाता है और क्या नहीं कर गुजरता? तो गोशाला उस समय क्रोधोन्माद से वेभान हो गया था, उसने भगवान् पर तेजोलेश्या का प्रयोग करते हुए कहा—लो, छह महीने के भीतर तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी।

भगवान् ने शान्त स्वर में कहा—गोशालक! छह मास में मेरी मृत्यु नहीं होगी, मैं अभी सोलह वर्ष पर्यन्त जीवित रहूँगा, किन्तु तुम अपने भविष्य का विचार करो, तुम्हारी जिंदगी सिर्फ सात दिन की है।

भगवान् की भविष्यवाणी सुनकर गोशाला के हृदय में भय उत्पन्न हो गया, वह मन में तो जानता ही था कि भगवान् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं और उनका कथन अन्यथा नहीं हो सकता।

गोशाला अपने उपाश्रय में लौट गया, परन्तु इस घटना का और भगवान् की भविष्यवाणी का उसके चित्त पर गहरा असर हुआ, उसका हृदय बदल गया, उसने अपने पाप का आलोचन किया और अपनी कृतघ्न आत्मा को धिक्कार दिया, इस प्रकार आत्मशुद्धि करने से उसे मृत्यु के पश्चात् देवलोक प्राप्त हुआ।

उधर गोशाला द्वारा फैंकी तेजोलेश्या से भगवान् के शरीर

पर यह प्रभाव पड़ा कि उन्हें खूनी दस्त लगने लगे, भगवान् की यह हालत देखकर रोहक नामक अनगार को बहुत दुःख हुआ, जंगल में जाकर वह रोने लगे, क्योंकि उन्होंने सुन लिया था कि छह महीने में भगवान् की मृत्यु हो जाएगी, रोहक सोचने लगे–जो इस विशाल संघ के प्राण हैं, हमारे संयमजीवन के आधार हैं ज्ञान दाता हैं और अखिल लोक में अपने ज्ञानालोक की प्रखर रश्मियां बिखेर रहे हैं, वे न रहेंगे तो क्या स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

भगवान् ने रोहक मुनि के मन की दुर्बलता जानकर उन्हें अपने पास बुलवाया और कहा-रोहक! गोशालक की भविष्यवाणी सत्य नहीं होगी। कुछ ही दिनों में यह शरीर स्वस्थ हो जाएगा, देखो, तुम रेवती बाई के घर जाओ उसके यहां दो प्रकार के पाक बनाए गए हैं। उनमें एक मेरे लिए बनाया है, उसे बनाने वाले की सद्भावना तो है, परन्तु वह मेरे लिए ग्राह्य नहीं है। जो दूसरा पाक है, वह मेरे निमित्त से नहीं बनाया गया है, उसे ले आना।

शिष्य वही निर्दोष पाक ले आये, पाक देते समय रेवती के परिणाम इतने उच्च और विशुद्ध थे कि उसने तीर्थंकर गोत्र का बन्ध किया।

तो निर्दोष वस्तु उत्कृष्ट भावपूर्वक देने से संसार परीत हो जाता है। इस प्रकार निर्दोष वस्तु ग्रहण करना ही एषणा समिति है।

चौथी आदाननिक्षेपण समिति है इसका आशय यह है कि साधु के पास संयम के सहायक जो भी रजोहरण आदि उपकरण होते हैं, उन्हें यतनापूर्वक रखना, उठाना, ग्रहण करना।

पांचवीं परिष्ठापनिकासमिति है। मल, मूत्र, श्लेष्म, थूक आदि को निर्जीव-प्रासुक भूमि में त्यागना परिष्ठापनिका समिति है।

इन सब वस्तुओं को डालने में सावधानी रखने की बड़ी आवश्यकता है। आप देखते हैं कि आपके यहां की म्युनिसिपैलिटी ने शहर की स्वच्छता की दृष्टि से कानून बना रक्खा है कि जिस किसी को कूड़ा-कचरा या गंदी चीजें डालनी हों वे नियत स्थानों पर रक्खे हुए ढोल वगैरह में ही डालें। इधर—उधर बिखेरने वाले का चालान किया जाता है। यह सब नियम जनता की तन्दुरुस्ती के लिए बनाये जाते हैं।

प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि जैसे वह अपनी तन्दुरुस्ती का खयाल रखता है, उसी प्रकार दूसरों की तन्दुरुस्ती का भी खयाल रक्खे। ऐसा किये बिना अपनी स्वयं की भी तन्दुरुस्ती कायम नहीं रह सकती।

भाइयो! यह औदारिक शरीर अशुचि का घर है। उत्तम से उत्तम वस्तु भी इसके सम्पर्क में आकर अशुचि बन जाती है। अतएव इस शरीर में से जो भी वस्तुएँ निकलती हैं, वे सब अशुचि ही होती हैं। जब इन चीजों को परठना पड़े तो ऐसी जगह न परठे जहां किसी की दृष्टि पड़ती हो और जहां परठने से किसी को असुविधा होती हो।

शास्त्र भी कहता है-साधक ! यदि तू परिष्ठापनिका समिति का खयाल नहीं रक्खेगा तो राज्य के कानून का भंग करेगा और तीसरे महाव्रत को दूषित करेगा।

यह समिति केवल साधु-साध्वियों को ही नहीं वरन् प्रत्येक गृहस्थ को पालनीय है। तुमने इस समिति का खयाल नहीं रक्खा और फैंकने की चीजें देखेभाले बिना, ऊपर से यों ही फैंक दी तो किसी राहगीर के ऊपर पड़ सकती हैं और उस हालत में झगड़ा हुए बिना नहीं रहेगा। अतएव झगड़ा भी न हो और गदगी भी न हो, इसलिए इस समिति का पालन करना आवश्यक है।

आप इन बातों का जितना खयाल रक्खोगे, और जितना ज्यादा विवेक रक्खोगे, उतनी ही सभ्यता और संस्कृति बढ़ेगी और शान्ति भी बढ़ेगी। आत्मा का भी विकास होगा।

तो यह पांचों समितियां जानने योग्य और जान कर पालन करने के योग्य हैं। तीनों गुप्तियों और पांचों समितियों को शास्त्र में प्रवचन-माता की पदवी दी गई है। जो इन्हें धारण कर लेता है, उसकी आत्मा दुर्गति में जाने से बच जाती है।

इसके बाद शास्त्रकार फर्माते हैं-अस्तिकाय पांच हैं प्रदेशों के समूह रूप द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं। अर्थात् अनेक प्रदेशों का प्रचय जिन द्रव्यों में हैं, वे अस्तिकाय हैं। वे पांच यह हैं-(१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय (३) आकाशास्तिकाय (४) जीवास्तिकाय और (५) पुद्गलास्तिकाय।

पांचों अस्तिकाय त्रिकालस्थायी हैं, ध्रुव हैं। अनादिकाल

से हैं, अनन्तकाल तक रहेंगे। जहां यह पांचों विद्यमान हैं वह लोक कहलाता है और लोक कभी इनसे शून्य नहीं होता। पांचों अस्तिकायों का स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) धर्मास्तिकाय— छह द्रव्यों में अथवा पांच अस्तिकायों में गतिशील द्रव्य दो ही हैं—जीव और पुद्गल। गमन- परिणत जीव और पुद्गल की गति में जो द्रव्य सहायक होता है, वह धर्मास्तिकाय कहलाता है। यह द्रव्य सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है। इसके असंख्यात प्रदेश हैं।

(२) अधर्मास्तिकाय— वह द्रव्य है जो गमनपूर्वक स्थिति में परिणत हुए जीवों और पुद्गलों के ठहरने में सहायक होता है। यह भी धर्मास्तिकाय की तरह लोकव्यापी, असंख्यात प्रदेशी द्रव्य है।

(३) आकाशास्तिकाय- सब द्रव्यों को अवकाश या अवगाहना देना आकाशास्तिकाय का लक्षण है। यह द्रव्य लोक और अलोक में व्याप्त है। अनन्त प्रदेशी है। इसके जितने भाग में धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य रहते हैं वह लोकाकाश कहलाता है और जहां आकाश के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, वह भाग अलोकाकाश कहलाता है। लोकाकाश का परिणाम चौदह राजू है और उसके बाहर सभी ओर अनन्त अलोकाकाश रहा हुआ है

(४) जीवास्तिकाय- जिसमें चेतना विद्यमान है, वह जीवास्तिकाय है। उपयोग अथवा ज्ञान-दर्शन चेतना कहलाता है। जीव अनन्तानन्त हैं और प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशों का समूह है।

(५) पुद्‌गलास्तिकाय– जो द्रव्य रूपी और जड़ है और जिसे हम इन्द्रियों से ग्रहण कर सकते हैं, वह द्रव्य पुद्‌गलास्तिकाय है, पुद्‌गल एक दूसरे से भिन्न अनन्त द्रव्य है, मगर उन सब को दो विभागों में विभक्त किया गया है- अणु और स्कन्ध जिसका विभाग नहीं हो सकता ऐसा सूक्ष्मतम पुद्‌गल परमाणु कहलाता है। अनेक परमाणुओं के पिण्ड को स्कंध कहते हैं। इनका रूपान्तर होता रहता है, पर सर्वथा विनाश नहीं होता।

बतलाया जा चुका है कि लोक और अलोक के विभाजक द्रव्य धर्म और अधर्म हैं. जहां यह दोनों नहीं हैं, वहीं से अलोक आरम्भ हो जाता है। कोई जीव जब मोक्ष प्राप्त करता है तो वह अपने सहज स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करता है और जहां तक धर्मास्तिकाय का निमित्त मिलता है, वहां तक बराबर चला ही जाता है, मगर जब धर्मास्तिकाय की सहायता नहीं मिलती तो रुक जाता है, यही कारण है कि सभी सिद्धात्मा लोक के अग्रभाग पर ही विराजमान होते हैं।

पांच अस्तिकायों के साथ काल की गणना करने से छह द्रव्य होते हैं, इन्हीं में यह समग्र विशाल विश्व समाहित है।

आगे बतलाया गया है कि रोहिणी नक्षत्र के, पुनर्वसु नक्षत्र के, हस्त नक्षत्र के, विशाखा नक्षत्र के और धनिष्ठा नक्षत्र के पांच-पांच तारे हैं।

प्रथम नरक के किसी-किसी नारक की पांच पल्योपम की स्थिति है, तीसरे नरक में किसी किसी नारक की स्थिति पांच सागरोपम की है। किन्हीं-किन्हीं असुरकुमारों की पांच पल्योपम

की स्थिति है, सौधर्म एवं ऐशान देवलोकों में किसी-किसी देव की स्थिति पांच पल्योपम की है, तीसरे और चौथे देवलोकों में किसी-किसी देव की स्थिति पांच सागरोपम की है तीसरे चौथे देवलोक में जो देवता वात, सुवात, वातप्रभ, वातावर्त, वातकान्त, वातवर्ण, वातलेश्य, वातध्वज, वातशृंग, वातसिद्ध, वातकूट, वातोत्तरावतंसक, तथा दूसरे प्रतर में सूर, सुसूर, सूरावर्त्त, सूरप्रभ, सूरकान्त, सूरवर्ण, सूरलेश्य, सूरध्वज, सूरशृंग, सूरसिद्ध, सूरकूट तथा सूरोत्तरावतंसक, इन चौबीस विमानों में देव रूप से उत्पन्न होते हैं, उनकी पांच सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति कही गई है।

जिन देवों की स्थिति पांच सागरोपम की है वे पांच पक्ष में अर्थात् अढ़ाई मास में श्वासोच्छ्वास लेते हैं, इन देवों को पांच हजार वर्ष में भोजन की इच्छा उत्पन्न होती है।

कितनेक भवसिद्धिक जीव ऐसे हैं जो पांच भव करके सिद्ध होंगे, बुद्ध होंगे और कर्मों को काटकर अक्षय सुख को प्राप्त करेंगे।

यहां पांचवां समवाय समाप्त होता है और छठा समवाय प्रारम्भ होता है, छठे समवाय के प्रारम्भ में लेश्याओं के छह भेद बतलाए गए हैं। कषाय से रंगे हुए योग के परिणमन को लेश्या कहा गया है, लेश्या एक प्रकार का जीव का अध्यवसाय है जो कषायों को भड़काने वाला है, किसी-किसी आचार्य के अभिप्राय से योग का निस्पन्द लेश्या है।

यों तो संसारी जीवों के अध्यवसायों की कोई गणना ही

नहीं हो सकती, क्योंकि जीव अनन्त हैं और उनके अध्यवसाय भी भिन्न-भिन्न होने से अनन्त हैं। तथापि उनका वर्गीकरण करके ज्ञानियों ने उन्हें छह भागों में बांट दिया है, वह वर्गीकरण उनकी शुद्धि-अशुद्धि की तरतमता के आधार पर किया गया हैं। वही छह लेश्याएँ हैं उनका संक्षिप्त स्वरुप इस प्रकार है—

(१) कृष्णलेश्या—गाड़ी के खंजन के समान काली लेश्या। जिसका मन अत्यन्त मलीन है, जो बड़े से बड़ा पाप करने में लेश मात्र भी संकोच नहीं करता, वह कृष्णलेश्या वाला कहलाता है। ऐसा व्यक्ति फल प्राप्त करने के लिए वृक्ष को मूल से ही काटने को उद्यत हो जाता है।

(२) नीललेश्या—यह नीले रंग के द्रव्य वाली होती है। इस की मलीनता कृष्णलेश्या से कुछ कम होती है।

(३) कापोतलेश्या—कबूतर की ग्रीवा के समान रंग की होती है।

(४) तेजोलेश्या-इसका रंग हिंगलु जैसा होता है।

(५) पद्मलेश्या-जैसे हजारे के फूल का रंग पीला होता है, उसी प्रकार पीत द्रव्यों के निमित्त से होने वाला परिणाम पद्म-लेश्या है।

(६) शुक्ललेश्या-श्वेतवर्ण द्रव्यों के निमित्त से होने वाले अध्यवसाय।

उत्तराध्ययन के चौतीसवें अध्ययन में लेश्याओं का वर्णन किया गया है। श्रीपन्नवणासूत्र में लेश्यापद में इनके वर्ण, गंध, रस और स्पर्श का, इनके कालमान का और इनके निमित्त से बँधने वाले आयुष्य आदि-आदि बातों का विशद वर्णन किया गया है।

लेश्याओं के मुख्य दो भेद हैं-द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। द्रव्यलेश्या विशिष्ट प्रकार के पुद्गल द्रव्य हैं और भावलेश्या उन द्रव्यों के निमित्त से होने वाले परिणाम हैं। छह प्रकार की लेश्याओं का स्वरूप उनके नाम से ही प्रकट हो जाता है, तथापि उनके तारतम्य को समझाने के लिए आम के वृक्ष का उदाहरण प्रसिद्ध है। वह आपने संभवतः सुना भी होगा। फिर भी स्पष्टीकरण के लिए उसे कह देना उचित होगा।

मान लीजिए छह पुरुष जंगल में गए। उस समय उन्हें भूख लग रही थी। उन्हें आम का एक वृक्ष दिखाई दिया। तब उनमें से एक ने कहा-हमें आम खाने हैं तो सब से सरल तरीका यह है कि इस वृक्ष को कुल्हाड़े से जड़ से ही काट गिरावें। फिर आराम से भरपेट आम खाएँगे।

प्रथम व्यक्ति का यह सुझाव सुन कर दूसरा व्यक्ति बोला-वृक्ष को काट गिराने से तो कोई लाभ नहीं है क्योंकि फिर भविष्य में इसमें आम नहीं लग सकेंगे। इसकी मोटी-मोटी शाखाएं ही काट लो, जिससे आम भी मिल जाएं और पेड़ भी बना रहे।

तीसरे व्यक्ति ने अपनी सम्मति प्रकट करते हुए कहा-

मेरे खयाल से न तो पेड़ ही काटा जाय और न बड़ी-बड़ी शाखाएं काटी जाएं, जिन छोटी शाखाओं में आम लगे हैं, उनको ही काट लिया जाय।

चौथे पुरुष ने कहा—मगर छोटी शाखाओं को भी काट ने की क्या आवश्यकता है? हमें शाखाएं तो चाहिए नहीं, आम चाहिए। आम तो गुच्छों को तोड़ने से ही प्राप्त हो सकते हैं। फिर क्यों व्यर्थ ही छोटी शाखाएं काटी जाएं।

इसके बाद पांचवें पुरुष ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा—तुम्हारी बात भी मेरी समझ में नहीं आती। फलों के गुच्छे तोड़ोगे तो उसमें कच्चे-पक्के सभी प्रकार के आम होंगे। कच्चे आम क्या काम आएंगे? अतएव अच्छा हो कि पके-पके आम ही तोड़ लें।

छठा व्यक्ति चुपचाप सब के प्रस्तावों को सुन रहा था। बड़े गम्भीर शब्दों में अपने भाव प्रकट करते हुए वह बोला—आप लोगों ने अपने-अपने विचार रक्खे हैं। मगर हमारा उद्देश्य तो अपनी भूख मिटाना ही है। वृक्ष के नीचे जो पक कर स्वतः गिरे हुए बहुत से फल पड़े हैं। इनसे हमारी भूख मिट सकती है। ऐसी स्थिति में क्यों वृथा नये सिरे से फल तोड़े जाएं? नीचे गिरे फलों से ही काम चला लेना चाहिए। इससे फल भी खराब न होंगे, परिश्रम भी नहीं करना पड़ेगा और समय की भी बचत हो जाएगी।

इस उदाहरण से छहों लेश्याओं के अध्यवसायों का तारतम्य समझ में आ सकता है। कृष्णलेश्या के परिणाम सब से

अधिक मलीन होते हैं और शुक्ललेश्या के परिणाम सब से अधिक उज्ज्वल। बीच की चार लेश्याएं उत्तरोत्तर विशुद्ध विशुद्धतर हैं। इस दृष्टान्त को स्वर्गीय श्री हीरालालजी म० ने, जो जैन दिवाकर श्री चौथमलजी म० के गुरु थे, एक कविता में गूंथ दिया है--

एक समय भेला होई चाल्या है मितरी पट,
पाको आम देखी कहै कैसी तरह कीजिए।
एक कहै मूल काटो दूजो कहै ऊपर सेती,
तीजो नर कहे छोटी शाख काट लीजिए।
चौथे झूड़े काची-पाकी पांचवां ने पाकी पाड़ी,
छठो नर कहे इम हेठे पड़ी लीजिए।
छही जणा सम छही लेस्या का परिणाम जान,
हीरालाल कहे शुद्ध भाव सेती रीजिए॥

आशय यह है कि छह पुरुषों के दिलों में छह प्रकार के परिणाम उत्पन्न हुए, परन्तु उनमें कितना अन्तर है। तो जैसा अन्तर इन पुरुषों के अध्यवसायों में है, उसी प्रकार का अन्तर जगत् के प्राणियों के विचारों में है। सब को अपने प्रयोजन की पूर्ति करना है मगर उसके उपायों में आकाश-पाताल जितना अन्तर है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए दूसरों का सर्वनाश करने में संकोच नहीं करते। कुछ लोग दूसरों का सर्वनाश न करें मगर उन्हें बड़ी से बड़ी हानि पहुंचाने को तत्पर रहते हैं। इसमें अनेक श्रेणियां हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी लोग हैं जो दूसरों को हानि न पहुँचाने का खयाल रखते हैं और हानि पहुँचाए बिना ही अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेते हैं। यह बात इस उदाहरण से स्पष्ट रूप से समझ में आ सकती है।

पूर्वोक्त छह लेश्याओं में प्रारम्भ की तीन अप्रशस्त हैं, अधर्मलेश्याएं हैं और अन्त की तीन प्रशस्त हैं। कृष्ण, नील और कापोत यह अप्रशस्त लेश्याएं दुर्गति का कारण हैं और तेज, पद्म तथा शुक्ल लेश्याएं सद्गति का कारण हैं। इस प्रकार जीव अपने विचारों से ही अपने लिए स्वर्ग और नरक तैयार कर लेता है। कहा भी है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात्—मनुष्यों का मन ही बन्ध और मोक्ष का प्रधान कारण है।

भाइयो ! इस मन की गति बड़ी विचित्र है। यह एक क्षण के लिए भी शान्त और स्थिर नहीं रहता। सोते समय इन्द्रियां अपना व्यापार बंद कर देती हैं, मगर मन उस समय भी उधेड़बुन में लगा रहता है।

मन कभी अच्छे और कभी बुरे विचारों में रमण करता है। बुरे विचारों से स्वयं की और दूसरों की भी हानि होती है। अच्छे विचारों से पहले स्वयं को ही लाभ होता है, बाद में दूसरों को भी।

मनुष्य के जीवन पर उसके विचारों का गम्भीर प्रभाव पड़ता है। बल्कि यही कहना उचित है कि मनुष्य का बाह्यजीवन उसके मनोविचारों का ही मूर्त्त रूप है। अतएव अपने विचारों को सदैव ऐसा रखना चाहिए जिससे जीवन निर्मल, पवित्र और उच्च बन सके। कभी भूल कर भी अपनी कीमत कम नहीं

आंकनी चाहिए। अपने को तुच्छ, अपदार्थ, निःसत्व और हीन नहीं समझना चाहिए। अगर इस प्रकार के विचार चित्त में घर कर गए तो आपका जीवन तुच्छ ही बन सकता है। मेरा आशय यह नहीं है कि आप अहंकार में चूर हो जाएं, मगर यह है कि अपनी शक्तियों को पहचानें और उनका वास्तविक मूल्य और उपयोग समझें।

मत भूलिए कि आपके शरीर में सिद्धस्वरूप परमात्मा विराजमान है। वह अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है। केवल उन शक्तियों पर आवरण होने के कारण वे प्रकाश में नहीं आ रही हैं। लोग अपनी आत्मा को नहीं समझ पाते हैं और इसी कारण उनका एक मात्र लक्ष्य शरीर की रक्षा और पुष्टि ही हो रहा है। परन्तु हमें आत्मा की कद्र करनी चाहिए। तलवार की मूठ चाहे हीरे की हो चाहे पीतल की, कीमत तो तलवार की है। मगर खेद है कि आज की दुनिया मूठ की ही कीमत कर रही है, तलवार की नहीं। शरीर के भीतर जो चिदानन्द विराजमान है, उसकी कोई कद्र नहीं की जाती। कौन नहीं समझता कि चिदानन्द की बदौलत ही शरीर का महत्त्व है। उसके अभाव में शरीर मिट्टी का पुतला मात्र है। उसमें से बदबू निकलती है और वह बड़ा ही बीभत्स दिखलाई देता है।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य के मनोविचार बड़े ही प्रभावोत्पादक होते हैं और जीवननिर्माण में उनका बड़ा भाग होता है। अतएव अपने विचारों को सदा पवित्र रखना चाहिए और सर्वदा मन की चौकसी करते रहना चाहिए कि जिससे वह सन्मार्ग छोड़ कर उन्मार्ग में न दौड़ जाए।

भाइयो ! रामकृष्ण परमहंस का नाम आपने सुना होगा। बाल्यकाल में वह पढ़-लिख कर तैयार हो गए तो उनका विवाह हो गया। फिर वे प्रोफेसर बन गए। तत्पश्चात् साधु-सन्तों की संगति में आए और संसार से विरक्त हो गए। साधु बनने के बाद साधना की और देश विदेश में अध्यात्मवाद का प्रचार किया। उनके व्याख्यानों का संग्रह प्रकाशित हुआ है। उन्हें पढ कर मेरे मन पर अच्छा असर पड़ा। उन्होंने भी मन की साधना पर भार दिया है।

भौतिक पदार्थों का त्याग कर देना आसान है, परन्तु मन को वशीभूत करना कठिन है। फिर भी यह संभव तो है ही। अतएव मन को वश में करने के लिए निरन्तर सावधान रहना चाहिए।

स्वामी रामतीर्थ के व्याख्यान में एक बात आई है। स्काटलेण्ड में एक लड़का अनाथ हो गया। किसी ने दया करके उसे स्कूल में भर्त्ती करा दिया। वह लड़का बहुत निरंकुश और ऊधमी था। शिक्षकों ने उसके लिए बहुत श्रम किया मगर उसका सुधार न हो सका तो शिक्षकों को यह अंदेशा होने लगा कि कहीं इसके संसर्ग से अन्य लड़के खराब न हो जाएं। माता-पिताओं ने लड़कों का उत्तरदायित्व हमें सौंपा है, इसलिए कि उनके जीवन में सुधार हो। किन्तु बुरे संसर्ग से अच्छे लड़के भी खराब हो जाते हैं। कहा है—

बिगड्या वडजां बगुला बैठा, बिगड्यां घर जां गोला पेठा।
बिगड़ी नारी मिली मिठाई, बिगड्यो वाण्यो भरी हवाई।

बिगड्यो दूध जो मिली खटाई, बिगड्यो राज करी अनिताई।
बिगड्यो पान बिगाड़े चोरी, बिगड्यो मनुप बिगाड़े टोरी॥

बड़ के वृक्ष पर बगुला बैठता है तो सब पत्तों को बिगाड़ देता है। जिस घर में लफंगे आदमियों का आना जाना शुरु हो जाता है, वह घर बिगड़ जाता है। जिस स्त्री को मिठाई खाने का लालच हो जाता है, समझलो कि वह स्त्री बिगड़ने वाली है, जिस दुकान पर बिगड़े लोग बैठते हैं वह दुकान नहीं चलने पाती खटाई मिलने से दूध बिगड़ जाता है। सड़ा हुआ एक पान सब को सड़ा देता है, इसी कारण तंबोली सड़े पानों को काटता रहता है। इसी प्रकार बिगड़ा आदमी दूसरों को भी बिगाड़ देता है। कई तमाकू सूंगने वाले कहते हैं— तमाखू सूंघने से जुकाम झड़ जाता है, मगर उन्हें खयाल रखना चाहिए कि उससे आखों की रोशनी भी कम हो जाती है।

तो बिगड़ा हुआ आदमी टोली को बिगाड़ देता है। यही सोच कर शिक्षकों ने देखा कि यह लड़का दूसरों को भी बिगाड़ देगा। किसी से मार-पीट करेगा या झगड़ा करेगा तो मां-बापों की शिकायतें आएंगी। अतएव इस लड़के को स्कूल से निकाल देना ही उचित है।

आखिर वह लड़का स्कूल से पृथक् कर दिया गया। लड़के ने सोचा-मैं इस देश में मुंह दिखलाने लायक भी नहीं हूं। मुझे परदेश चला जाना चाहिए। यह सोचकर वह लड़का जहाज में बैठ कर इंगलेण्ड उतर गया। अब वह एक अजनबी देश में जा पहुँचा था, जहां कोई भी उसकी जान-पहचान का नहीं था। वहां पहुँच कर वह इधर-उधर घूमने लगा।

लड़के को एक बंगला मिला, जिसके सामने मैदान आ गया था। उसमें एक खिड़की खुली थी। लड़का खिड़की में होकर वहां चला गया और मैदान में बिल्ली के साथ खेलने लगा- इतने में ही चर्च से घंटी बजने लगी। उसकी आवाज सुन कर वह बिल्ली से कहने लगा-यह घंटी कहती है— टन टनं-टनं विटंगटन लार्ड मेयर ऑफ लण्डन। मैं यहां का लार्ड मेयर हूं और यहां का बादशाह हूँ।

बिल्ली तो उसकी बात समझ नहीं सकी होगी, मगर बंगले के मालिक साहब ने उसकी बात सुन ली। उसने लड़के को अपने पास बुलाया और पूछा-घंटी क्या बोल रही है?

लड़के ने कहा- यह मुझे कह रही है कि तू यहां का बादशाह है।

साहब ने लड़के को अपने पास बिठला लिया और उसका परिचय पूछा। तब उसने बतलाया-मैं स्काटलेंड का निवासी हूँ। शिक्षकों ने स्कूल से पृथक कर दिया तो अपना अपमान समझ कर यहां आ गया हूं।

साहब ने उसे आश्वासन देते हुए कहा-अच्छा, बच्चे, तुम यहीं रहो।

लड़का उसी साहब के पास रहने लगा। साहब ने उसे पढ़ाया-लिखाया और एक दिन अपनी सारी सम्पत्ति का स्वामी बना दिया। अब वह युवा होगया था और सम्पत्तिशाली भी था एक बार चुनाव का मौका आया और वह भी उम्मीदवार बन गया

सौभाग्य से चुनाव में वह विजयी हुआ और सचमुच ही वहां का लार्ड मेयर बन गया।

कहने का अभिप्राय यह है कि बचपन से ही उस बच्चे के विचार उन्नत थे तो वह अपने जीवन में उन्नति कर सका, अतएव अपने विचार उन्नत और पवित्र बनाओ और छोटी-छोटी बातों में मत उलझो. छोटी-छोटी बातों में उलझ जाने से जीवन में विशेष अभ्युदय नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

भाइयो! तुम्हारे भीतर चिदानन्द बैठा हुआ है और इसमें अजर, अमर, अविनाशी परमात्मा बनने की शक्ति है, तो फिर दूसरे झंझटों में क्यों उलझ रहे हो? अतएव तलवार की कीमत करो, म्यान के लिए झगड़ा मत करो। कहा है—

तर्ज—महावीर से ध्यान लगाया करो

चेतन निज स्वरूप तू पाया नहीं,
जिससे मृत्यु का अंत भी आया नहीं ॥ टेक ॥
इन्द्रिय सम्बन्धी जो विषय हैं, तू इसे सुख मानता,
पाप पैदा कर रहा है, यह तेरी अज्ञानता।
तक्र पी है, मक्खन कभी खाया नहीं ॥ चेतन० १ ॥
दुनिया के सुख तो दृष्टि से, देख पलटायगा,
सदा कायम जो रहे असली वो सुख कहलायगा।
इसका क्या है मर्म तूने पाया नहीं ॥ चेतन० २ ॥
रत्न पानी में पड़ा, पानी तो हिलता रहायगा,
वहां तलक वह रत्न है, तेरी नजर नहीं आयगा।
इस न्याय पै ध्यान लगा तो सही ॥ चेतन० ३ ॥

विषय कषाय के योग से, तेरा मन चंचल हो रहा,
कुछ भान तुझको है नहीं, नर जिन्दगी को खो रहा।
एक स्थान पै दिल को जमाया नहीं ॥ चेतन० ४ ॥
मन की चंचलता सभी, अभ्यास से मिट जायगा,
कहे चौथमल अज्ञान का परदा तेरा हट जायगा।
ज्ञान पाने से फिर भरमा नहीं ॥ चेतन० ५ ॥

हे चिदानन्द ! तू इस संसार की क्षणिक मौज-शौक में ही लगा हुआ है और इन्द्रियजनित सुख को ही सुख मान रहा है, इन्द्रियजनित सुख के पीछे लगकर नाना प्रकार के पाप कर रहा है, यह तेरी बड़ी अज्ञानता हो रही है। तूने अभी तक छाछ ही छाछ पी है, मक्खन का स्वाद नहीं लिया है, जब तक तू मक्खन का आस्वादन नहीं करेगा तब तक तुझे पुष्टि प्राप्त नहीं होगी, हे आत्मन् ! जब तक तू विषय-कषाय से विरत नहीं होता, तब तक आत्मिक पुष्टि होने वाली नहीं है।

संसार में जो भी सुख दृष्टिगत हो रहे हैं, वे हमेशा कायम रहने वाले नहीं हैं, सब क्षणभंगुर हैं, स्थायी जो रहता है वह तो आत्मिक सुख ही है, मगर अभी तक तू इस मर्म को हृदयगम नहीं कर पाया है।

भाइयो ! आत्मा के स्वरूप को समझने की बड़ी भारी आवश्यकता है, आत्मा का स्वरूप समझे बिना सच्चा सुख कदापि प्राप्त होने वाला नहीं, परन्तु आज तो भौतिक सुख-समृद्धि की जबर्दस्त प्रतिस्पर्द्धा जगत् में चल रही है। लोग चन्द्रमा पर शासन स्थापित करने के स्वप्न देख रहे हैं, आत्मा की ओर

किसी का ध्यान नहीं है, इससे आत्मा का सुख और भी दूर चला जाता है।

पानी के अन्दर रत्न पड़ा हुआ है और हवा के कारण पानी उछल रहा है तो वह रत्न दिखाई नहीं देता, यह आत्मा भी रत्न के समान है-चिन्तामणि है, यह संसार रुपी समुद्र में पड़ा है और योगों की तेज आंधी के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता है, जब तक यह आंधी चालू रहेगी तब तक यह दिखाई देगा भी नहीं, योगों की आंधी जब रुकेगी तभी आत्मा रुपी रत्न दिखाई देगा, यह एक ध्रुव सत्य है जिसे समझ लेना चाहिए।

जब तक विषय-कषाय का त्याग नहीं किया जाता, तब तक मन की चंचलता नहीं मिट सकती। यह पीपल के पान और हाथी के कान के समान चचल बना ही रहेगा। अतएव आत्म-दर्शन के लिए चित्त को स्थिर करो और चित्त की स्थिरता के लिए विषयानुराग का परित्याग करो।

ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि थोड़े समय के लिए समझ लो कि संसार में सब कुछ है, परन्तु साथ यह भी समझो कि यह सब कुछ और है और मैं कुछ और हूं। ऐसा समझने से ज्ञान आ जाएगा और उसका विस्तार होगा। फिर किसी के चक्कर में नहीं आओगे।

इस प्रकार मानसिक विचारों के महत्त्व और प्रभाव को जान कर आत्महितैषी पुरुषों का कर्त्तव्य है कि कृष्ण नील और कापोत लेश्याओं का परित्याग करके प्रशस्त लेश्याओं को ही धारण करें

और उनमें भी उत्तरोत्तर विकास करते हुए अलेश्य बनने का प्रयत्न करें।

अमरसेन-वीरसेन चरित–

यही बात अमरसेन वीरसेन के चरित के माध्यम से आपके सामने रख रहा हूँ। कल बतलाया गया था कि दोनों राजकुमारों को चाण्डाल दूर तक छोड़ कर अपने घर लौट आए। दोनों राजकुमार कंपिलपुर को छोड़ कर जंगल की राह आगे बढ़े। दोनों भाइयों के सिवाय वहां तीसरा कोई नहीं था। हार्दिक वेदना उनकी उमड़-उमड़ पड़ती थी और हृदय भर आता था। कहां राजमहल के सुखमय वातावरण में रहना, कहां महाराज का प्यार, पटरानी का पालन-पोषण, कहां सारे नगर में फैली कीर्त्ति और कहां आज की स्थिति। उन्हें अपनी वर्त्तमान स्थिति का कारण भी ज्ञात नहीं हो पाया था और न यही जानते थे कि हमें कहां जाना है और क्या करना है? कैसे जीवित रहना है? आखिर चलते-चलते कहां विश्राम करेंगे? वहां और कैसे भोजन मिलेगा? बेचारे कुमारों की आंखों के आगे घोर अन्धकार था। उन्हें कुछ भी नहीं सूझ पड़ता था।

आखिर वीरसेन ने किसी प्रकार ढाढस बांध कर अमरसेन से कहा—भाई, इस प्रकार रोने से क्या होने वाला है? यहां कौन देखता है हमारा रोना और पूछता है रोने का कारण? इस परिस्थिति का प्रतीकार रोने से होने वाला नहीं। होगा तो हिम्मत रखने से होगा। संकट के समय साहस रहे तो उसे पार किया जा सकता है। साहस छोड़ देने से संकट सौ गुना बड़ा

हो जाता है। अतएव हिम्मत रक्खो। आगे जो होगा, देखा जाएगा। जब हमने कोई अपराध नहीं किया, फिर भी दुःख आ पड़ा है तो निश्चित है कि पूर्वकृत कोई पाप उदय में आया है। उसे शान्तिपूर्वक सहन करने से ही काम चलेगा।

इसी प्रकार जब वीरसेन घबरा उठता तो अमरसेन उसे सान्त्वना देता। दोनों आपस में एक दूसरे को सान्त्वना देते आगे बढ़ते जा रहे थे।

ज्ञानी जन कहते हैं—इस जीवन में सुख दुःख का संयोग अवश्यंभावी है परन्तु सुख प्राप्त होने पर फूलना नहीं और दुःख आने पर घबराना नहीं चाहिए। कहा है—

होकर सुख में मग्न न फूलूँ, दुख में कभी न घबराऊँ।

इस प्रकार एक दूसरे को ढाढस बंधाते हुए अनिर्दिष्ट दिशा में वे चल रहे थे। कहां जाना है, कुछ पता नहीं था। बीच-बीच में वह सोचते थे—रात्रि को प्राण जाने में क्या कसर रह गई थी! प्राण बचे, यही बड़ा लाभ है। हमारे पास और कुछ नहीं है तो न सही। साथ में न कुछ लाये थे, न ले जाना है। फिर चिन्ता किस बात की है? कहा है:—

मुर्दे को भी मिलता है, लकड़ी कपड़ा आग।
जीवत चिन्ता जो करे, ताको बड़ो अभाग॥

अरे जब मुर्दे को भी कफन, काष्ठ और आग मिल जाती है तो जीवित को क्यों नहीं मिलेगा? फिर क्यों हाय हाय करते हो और सन्तोष धारण नहीं करते? याद रक्खो, सन्तोषी को

ज्यादा ही मिलता है। कुत्ता असंतोषी होता है तो जगह-जगह धुतकारा जाता है और डंडा मार कर भगाया जाता है। असन्तोष से प्राप्ति नहीं होती, चिन्तावृद्धि होती है।

दिन नहीं रहा तो रात भी रहने वाली नहीं है !

भाइयो ! इन कुमारों से यही शिक्षा लेनी है कि इस जीवन में कभी इष्ट वस्तु का संयोग होता है और कभी वियोग भी हो जाता है. कभी अनुकूल सामग्री प्राप्त हो जाती है और कभी प्रतिकूल मिल जाती है। फिर भी चित्त को शान्त और स्थिर रखना चाहिए।

तो एक भाई ने दूसरे भाई से कहा—पिताजी ने मस्तक काटने का हुक्म दे दिया था, मगर वह संकट टल गया तो यह संकट भी निश्चित रूप से टल जाएगा।

प्रासंगिक

भाइयों ! जिस सामाजिक लक्ष्य को सामने रखकर आपने मेरा चातुर्मास कराया था, वह पूरा हो गया है। उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक सज्जनों ने परिश्रम किया और सहयोग दिया है। इस स्थान को देख कर लोग सन्तोष का अनुभव करते हैं। सेठानीजी ने यह बंगला धर्मकार्य के लिए दिया है तो खूब धर्म ध्यान होना चाहिए।

भाइयो ! अभी बहुत जीना है और यह जिंदगी बहुत लंबी है, तो मंजिल भी बहुत लम्बी तय करना है। उसको तय

करने के लिए दिल में बहुत बड़ी ताकत चाहिए। एक एक कदम बड़ी होशियारी के साथ आगे बढ़ाना है। भारत सरकार की ओर से पचवर्षीय योजना का कार्यक्रम चल रहा है। विगत दस वर्षों में इस देश में बहुत निर्माण कार्य हुआ है और देश की प्रगति हुई है। यदि आप को भी कोई धार्मिक-सामाजिक कार्य करना है तो अपना लक्ष्य निर्धारित करलो और उसकी सिद्धि के लिए सारी शक्ति पूरी तरह लगा दो। अगर आप तन मन धन की शक्ति पूरी तरह लगा देंगे तो निश्चय ही सफलता प्राप्त होगी। योजनाबद्ध कार्य की प्रगति भले धीमी हो तथापि वह व्यवस्थित ढंग से होता है और पूर्णता पर पहुंच जाता है।

समाज के कार्य व्यक्ति ही करते हैं और जो चीजें राष्ट्र, समाज या संघ की हैं वे उन्हीं के काम आएंगी। मगर आत्मा के हित को भी भुला नहीं देना है। आत्मा का लक्ष्य कर्मों को नष्ट करना है और उसके लिए भी प्रकृष्ट पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है।

यदि कोई समझे या कहे कि यह मकान तो साधु साध्वी के लिए बनाया या खरीदा गया है तो यह नादानी है। जैन साधु अनियतवास वाले होते हैं। कहीं एक जगह टिक कर नहीं रहते अतएव उन्हें किसी एक जगह मकान की आवश्यकता नहीं होती। यह तो आपके लिए, समाज के लिए है। इसमें साधु साध्वी का कोई निमित्त नहीं है और न होना चाहिए। किसी को गलत बात कहना भी नहीं चाहिए। मकान बनाओ अर और मार्गदार बनाओ महाराज को! यह उचित नहीं कहने से वातावरण दूषित हो जाता है। आपको कोई

ऐसा नहीं करना चाहिए जिससे समाज का वातावरण गंदा हो, गंदे वातावरण को सुधारना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है पर गंदगी पैदा करना किसी का कर्त्तव्य नहीं है, मेरी हार्दिक कामना है कि आप सब एकमन होकर समाज और धर्म की प्रगति के लिए प्रयत्नशील हों और आत्मा के कल्याण के पथ पर अग्रसर हों।

यह युग प्रगतियुग कहा जाता है, जैनधर्म के सिद्धान्त प्रत्येक युग और प्रत्येक देश के लिए उपयोगी हैं, तथापि उनके प्रसार के लिए यह समय विशेष रुप से उपयुक्त है और उसके प्रसार का उत्तरदायित्व उसके अनुयायियों पर है, आप इस महान् उत्तरदायित्व को महसूस करें और तदनुसार कार्य करें, इसीमें आपका, समाज का और जगत् का कल्याण है।

बैंगलोर केन्टोनमेन्ट
ता० २०-६-५६